नैषधीयचरितम् महाकाव्य में ध्वनितत्त्व - एक अध्ययन

(NAISHADHEEYA CHARITAM MAHAKAVYA MEIN DHWANITATTWA - EK ADHYYANA)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी.फिल्. उपाधि के लिये प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
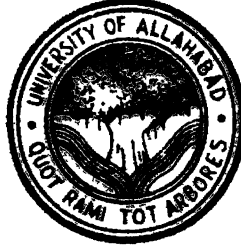
निर्देशिका

डॉ० (श्रीमती) ज्ञानदेवी श्रीवास्तव

एम०ए० (गोल्ड मेडलिस्ट) डी०फिल्०

प्रोफेसर एवं भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोधकर्त्री

श्रीमती वन्दिता कुशवाहा

एम०ए० (संस्कृत)

संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

२००२

विषय-अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का विषय — 'नैषधीयचरितम् महाकाव्य में ध्वनितत्त्व एक अध्ययन' है। प्रारम्भ से ही मेरी संस्कृत के प्रति विशेष रुचि रही है। एम०ए० के पाठ्यक्रम में श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रणीत 'ध्वन्यालोक' के प्रथमोद्योत का अध्ययन करने पर, 'ध्वनिसिद्धान्त' के प्रति मेरी विशेष रुचि उत्पन्न हो गई एवं इसी दिशा में शोध कार्य करने की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई।

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास का अध्ययन करते हुये मैंने यह अनुभव किया कि आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित सर्वथा नवीन 'ध्वनिसिद्धान्त', जिसमें ध्वनि को काव्य की आत्मा माना गया है, काव्यशास्त्र का मान्यतम सिद्धान्त है। महाकवि श्रीहर्ष द्वारा रचित 'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य पर अधिक विचार न होने से मैंने 'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य पर अधिक विचार न होने से मैंने 'नैषधीयचरितम्' में 'ध्वनितत्त्व' पर ही शोध कार्य करने का निश्चय किया।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में महाकवि श्रीहर्ष का जीवनवृत्त, काल, निवास स्थान, व्यक्तित्व, काव्य प्रतिभा आदि का वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्याय में 'ध्वनिसिद्धान्त के विवेचन के अन्तर्गत ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। तृतीय अध्याय में 'नैषधीयचरितम्' में ध्वनि पद्यों का विश्लेषण एवं चतुर्थ अध्याय में 'नैषधीयचरितम्' के अन्तर्गत 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के स्थलों का सुन्दर विवेचन किया गया

है। पंचम अध्याय उपसंहार का है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का निर्देशन डॉ० ज्ञान देवी श्रीवास्तव, प्रोफेसर तथा भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ने किया है। उन्होंने अपने अथक परिश्रम एवं कुशल निर्देशन द्वारा 'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य के दुरूह स्थलों का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत कर मेरा उचित मार्गदर्शन किया। उन्होंने अपने अति व्यस्त समय में भी प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का परीक्षण कर तथा उपयोगी सुझाव प्रस्तुत कर इसका परिष्कार एवं परिमार्जन किया है, जिसके फलस्वरूप मैं इस दुष्कर कार्य को सम्पन्न करने में सफल हो सकी। अतः मैं उनकी आत्मीयता, सह्दयता, एवं प्रेरणा की चिरऋणि रहूँगी।

इस शोध—प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में मुझे अनेक ख्यातिलब्ध विद्वानों की कृतियों से जो बहुमूल्य सहयोग मिला है, उन सभी ग्रन्थकारों के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध के सफल समापन का श्रेय श्रद्धेय गुरूजनों एवं माता—पिता के शुभाशीष को ही दिया जाता है, जिनकी प्रेरणाओं एवं मार्ग निर्देशन के फलस्वरूप प्रस्तुत दुष्कर कार्य सम्पन्न हो सका।

अन्ततः अपने गुण दोषों के साथ प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध, साहित्य के सुधी परीक्षकों के समक्ष परीक्षण हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है।

वन्दिता कुशवाहा

(श्रीमती वन्दिता कुशवाहा)

संस्कृत विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद।

प्रथम अध्याय

प्रास्ताविक

संस्कृत महाकाव्यों के अन्तर्गत जिन महाकाव्यों को वृहत्त्रयी में स्थान प्राप्त हो चुका है, वे हैं – महाकवि भारवि रचित 'किरातार्जुनीयम्, महाकवि माघ विरचित 'शिशुपालवधम्, और महाकवि श्रीहर्ष विरचित 'नैषधीय चरितम्'। इन तीन महाकाव्यों में 'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त है।

'उदिते नैषधे काव्ये क्वमाघः क्व च भारविः'

महाकवि श्रीहर्ष का जीवनवृत्त : महाकवि श्रीहर्ष ने स्वरचित 'नैषधीयचरितम्' के प्रत्येक सर्ग के अंतिम श्लोक में अपने माता–पिता का नाम, अपनी कृतियों का उल्लेख तथा महाकाव्य के अन्त में अपने आश्रयदाता के सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत किया है। इसके अतिरिक्त सन् १३४८ ई० में स्वरचित 'प्रबन्ध कोष' में राजशेखर सूरि ने श्रीहर्ष के संक्षिप्त जीवन का भी वर्णन किया है। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि – श्रीहर्ष के पिता का नाम 'श्रीहीर' तथा माता का नाम 'मामल्लदेवी' था। जिसका वर्णन इन्होंने अपने प्रत्येक सर्ग के अंतिम श्लोक में किया है।

श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालंकारहीरः सुतम्।

श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्यदेवी च यम्।।

कतिपय विद्वान् 'माम + अल्लदेवी' ऐसा पदच्छेद करके इनकी माता का नाम 'अल्लदेवी' था, ऐसा कहते हैं, किन्तु अन्य विद्वानों का मत है कि 'वातापि' के निकट 'मामल्लपुर' नगर ही श्रीहर्ष कवि के माता का निवास स्थान था। और उसी आधार पर इनका नाम 'मामल्लदेवी' हुआ। श्रीहर्ष के सर्गान्त्य श्लोंको से यह भी ज्ञात होता है कि ये कान्यकुब्जेश्वर से सदा दो ताम्बूल एवं आसन प्राप्त करते थे, एक तर्क के ज्ञाताओं के मध्य, दूसरा साहित्यमर्मज्ञों के बीच में, और साथ ही 'कविपण्डित' की उपाधि भी प्राप्त किये। [१]

तर्कशास्त्रों में उनका अत्यधिक अभ्यास था, जिससे शास्त्रार्थों में उनके युक्तिवचनों से प्रतिवादी उखड़ ही जाते थे। [२]

ये माता भगवती वागेश्वरी तथा स्वजननी के चरणोपासक थे। [३] इनकी कविता अतिसरस होने से मधुवर्षा करने वाली होती थी। [४] नैषधीयचरित के अतिरिक्त उन्होंनें स्थैर्य विचारण प्रकरण [५], शिवशक्ति सिद्धि [६], खण्डनखण्ड—

---

१. ताम्बूल द्वयमानसञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद् — नै० २२/१५५
   यः साक्षात् कुरुते समाधिषु परं ब्रकृम प्रमोदार्णवम्।

२. धार्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः — नै० २२/१५५

३. मातृचरणाम्भोजालिमौलेः — नै० १२/११३

४. यत्काव्यं मधुवर्षि — नै० २२/१५५

५. स्थैर्य—विचारण—प्रकरण--भ्रातरि—–महाकाव्ये। नै० ४/१२३

६. अस्मिन् शिवशक्तिसिद्धिभगिनीसौभ्रात्रभव्ये महाकाव्ये नै० १८/१५४

खाद्य [१], नवसाहसांकचरितचम्पू [२], श्री विजयप्रशस्ति [३], गौड़ीर्वीकुलप्रशस्ति [४], अर्णववर्णन [५], छिन्दप्रशस्ति [६], नाम के तान्त्रिक उपासना दार्शनिक विचार और काव्य विषयों वाले अन्य ग्रन्थ भी बनाये थे।

डा० शंकरन् नामक विद्वान् ने 'रस–सिद्धान्त' पृ० १३ में इन वार्तिककार श्रीहर्ष का कन्नौज के सम्राट हर्षवर्धन के साथ ऐक्य स्थापित किया है। किन्तु महामहोपाध्याय डा० पाण्डुरंग वामन काणे महोदय ने इसे केवल अनुमान ही माना है। [७]

ये श्रीहर्ष 'नैषधीयचरित' के कर्त्ता तो निश्चित ही नहीं हो सकते। नैषधकार ने अपने अन्य ग्रंथों का नाम बताते हुए इस वार्तिक का कहीं उल्लेख नहीं किया है।

महाकवि श्रीहर्ष के जीवनवृत्त के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। क्योंकि संस्कृत साहित्य में श्रीहर्ष नाम के अनेक विद्वान् एवं कवि हुए हैं। सर्वप्रथम स्थाण्वीश्वर तथा कान्यकुब्ज के प्रसिद्ध सम्राट हर्षवर्धन काव्य के क्षेत्र

---

१. खण्डन–खण्डतोपि सहजात् क्षोदक्षमे महाकाव्ये — नै० ६/११३

२. नवसाहसाङ्कचरिते चम्पूकृतः (तस्यकवेः) महाकाव्ये।। — नै० २२/१५१

३. तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य (कवेः) नव्ये महाकाव्ये।। — नै० ५/१३८

४. गौडोर्वीशकुल–प्रशस्ति–भाणितिभ्रातरि–महाकाव्ये।। — नै० ७/११०

५. सन्दृब्धार्णववर्णनस्य तस्य (कवेः) महाकाव्ये — नै० ९/१६०

६. स्वसुः सुसदृशिच्छिन्दप्रशंस्तेर्महकाव्ये — नै० १७/१२२

७. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स – पृ० ५९ नवीन संस्करण, १९५१

में श्रीहर्ष, श्रीहर्षदेव एवं हर्ष नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। वाण, मयूर, मातङ्ग, दिवाकर [१], धावक [२], आदि कवि शिरोमणियों के आश्रयदाता थे। रत्नावली, नागानन्द, और प्रियदर्शिका, इन तीन नाटक ग्रंथों के रचयिता ये ही सम्राट् माने जाते हैं। इन तीन नाटकों की प्रस्तावना में उन्होंने अपना नाम श्रीहर्ष दिया है।[३]

श्रीहर्ष का शासनकाल ईसा का सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध (६०६ से ६४८ ई० तक) माना जाता है।

कल्हण की 'राजतरंगिणी' में भी एक श्रीहर्ष नाम के कवि का वर्णन आता है। इनका शासनकाल एकादश शताब्दी का अंतिम दशक था। ये कश्मीर नरेश श्रीहर्ष भी एक सत्कवि तथा अनेंक भाषाओं के पण्डित थे। देशान्तरों में भी इनका यश फैला हुआ था। [४]

किन्तु पूर्वोक्त दोनों श्रीहर्ष 'नैषधीयचरित' के रचयिता नहीं हो सकते, क्योंकि नैषधकवि श्रीहर्ष को कान्यकुब्जेश्वर से दो ताम्बूल तथा आसन का गर्व था। [५] यह बात कितनी असंगत लगती है कि जो स्वयं नरेश हो वह किसी

---

१. अहो प्रभावोवाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकराः।

श्रीहर्षस्याभवन्सभ्याः समावाणमयूरयोः।। राजशेखर, शार्ङ्गधर पद्धति में।

२. श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्। काव्यप्रकाश – प्रथम उल्लास पृ० ७

३. श्रीहर्षोनिपुणः कवि।

४. गौड़देशभाषाज्ञ सर्वभाषासु सत्कविः।

दृतिविधानिधीः प्राप्तख्याति देशान्तरेष्यापि।। राजतरंगिणी। ७/६११

५. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्। नै० २२/१५२

अन्य नरेश से इस प्रकार के सम्मान को स्वीकार करे और उस पर इतना गर्व करे कि अपने ग्रन्थों में उसका उल्लेख करे।

पूर्वोक्त दोनों श्रीहर्ष स्वयं नरेश थे, फिर हर्षवर्धन तो स्वयं कान्यकुब्जेश्वर थे, उनकी ओर से यह उक्ति तो और भी अनुचित एवं असम्भव होगी। अतः 'नैषध' के रचयिता इन दोनों से भिन्न कोई अन्य महाकविशिरोमणि थे।

श्रीहर्ष नाम के एक कवि ने भारत के 'नाट्यशास्त्र' पर वार्तिक बनाया था, जो कि विशेष रूप से आर्याछिन्द में था। ये अभिनवगुप्त से भी पूर्व समय में हो चुके थे। इनके विषय में अभी अधिक ज्ञात नहीं हो पाया है।

राजशेखर से भी पूर्ववर्ती और 'नैषध' के प्रसिद्ध टीकाकार चाण्डु पंडित ने अपनी टीका 'नैषध' में दीपिका के प्रारम्भ में कुछ बातें श्रीहर्ष के सम्बन्ध में बताई हैं।[१]

उन्होंने वाराणसी के मुक्तिक्षेत्र में चारो पुरुषार्थों को पूर्णकर मानसिक शान्ति प्राप्त की थी। तदन्तर उन्होंने 'खण्डन खण्ड–खाद्य' नामक ग्रन्थ की रचना कर अपने पिता श्रीहीर के प्रतिद्वन्द्वी की रचनाओं का खण्डन किया था, किन्तु बाद में उनको यह अनुभव हुआ कि उनकी इस रचना में केवल शुष्क तर्क है, और इसी कारण वह जनता में अच्छी दृष्टि से नहीं देखी गई है। अतः लोगों को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने 'नैषध' महाकाव्य की रचना की। इसके

---

१. वि०सं० १३५३ (१२९६ ई० में)

भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में सुरक्षित पाण्डुलिपि।

अतिरिक्त ''गदाधर'' ने भी श्रीहर्ष के बारे में कुछ लिखा है। उनके अनुसार वे गोविन्दचन्द्र के सभापण्डितों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। अतएव अन्य पण्डित इनसे ईर्ष्या करने लगे, और उनके ग्रन्थ ''खण्डनखण्ड खाद्य'' का अध्ययन करने के पश्चात् उन लोगों ने श्रीहर्ष के बारे में यह कहना प्रारम्भ कर दिया था कि ''तर्करूपी शमी वृक्षों से परिपूर्ण शुष्क मरुस्थल का शरीरधारी रूप ही चला आ रहा है।'' जब इसका पता श्रीहर्ष को हुआ तब उन्होंने अपनी काव्यकला का प्रदर्शन करने हेतु 'नलचरित' नामक एक महाकाव्य की रचना की और राजा को भेंट किया। इसे देखकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने इसी ग्रन्थ के उपलक्ष्य में श्रीहर्ष को दो आसन प्रदान किया, एक तर्क के ज्ञाताओं के मध्य, और दूसरा साहित्य मर्मज्ञों के बीच। राजा ने उनको दो पान प्रदान किये और साथ ही ''कविपण्डित'' की उपाधि भी।

महाकवि श्रीहर्ष का जीवनकाल

महाकवि श्रीहर्ष जीवनकाल के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है।[१] सर्वप्रथम डा० बूलर ने श्रीहर्ष का समय निश्चित करने का प्रयास किया। उनके इस कार्य का आधार जैनकवि राजशेखर सूरि द्वारा रचित 'प्रबन्धकोष' है। इस ग्रंथ में राजशेखर सूरि ने श्रीहर्ष के विषय में पर्याप्त रूप से लिखा है।

उन्होंने श्रीहर्ष को राजा जयचन्द्र का आश्रित कवि माना है। स्वयं श्रीहर्ष ने भी अपने 'नैषध' में इसके विषय में लिखा है। [२]

अर्थात् जिन श्रीहर्ष को कान्यकुब्ज के अधीश्वर राजा से आसन और दो पान प्राप्त हुआ करते थे, यह कान्यकुब्ज का राजा कौन था? राजशेखर सूरि के अनुसार यह कान्यकुब्जेश्वर जयन्तचन्द्र ही हैं। इनका समय ११६८ ई० से ११९४ ई० तक है। जिसका दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान के साथ युद्ध हुआ था, तथा जो अन्त में यवनों के हाथो मारा गया।

---

१. बूलर का आई०ए० भाग १ पृ० ३०

जे०बी०आर०ए०एस० भाग १० पृ० ३३, भा० ११, पृ० २७९ से ८७ तक, एफ० एस० ग्राउस का आई०ए०भाग २ पृ० २१३, के०टी० तैलंग का आई०ए० भाग २ पृ० ७१

पी०एम० पूर्णिया का आई०ए० भाग ३, पृ० २९, रामप्रसाद सेन का आई०ए० भाग ३ पृ० ३१, राम प्रसाद चन्द का भाग ४२, पृ० ८३ से १८६ : आदि लेख।

२. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।। नैषध २२/१५५

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य के 'पंचमसर्ग' में जिस 'विजयप्रशस्ति' का उल्लेख किया है, संभवत: वह जयन्तचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की प्रशंसा में लिखा गया होगा। विजयचन्द्र का अंतिम शिलालेख ११६३ ई० का है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर डा० बूॅलर ने सर्वप्रथम श्रीहर्ष के समय के बारे में खोज की और वे इस परिणाम पर पहुँचे, कि महाकवि श्रीहर्ष राजा जयन्तचन्द्र के आश्रित कवि थे। जयन्तचन्द्र ने ११६३ से ११७७ ई० मध्य में राज्यारोहण किया होगा, क्योंकि उनके पिता का अन्तिम शिलालेख ११६३ ई० का है और उनका प्रथम दानपत्र ११७७ ई० का है।

'खण्डनखण्ड—खाद्य' की एक उक्ति से श्रीहर्ष का समय निश्चित करने में बहुत कुछ सरलता हो जाती है। 'खण्डनखण्डखाद्य' में एक स्थान पर श्रीहर्ष ने बहुत आदर के साथ व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट का उल्लेख किया है।[१] महिमभट्ट का समय अभिनवगुप्त के पश्चात् पड़ता है,[२] क्योंकि अभिनवगुप्ताचार्य का महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में उद्धरण दिया है।[३] अत: महिमभट्ट का समय १०२० ई० के बाद माना जा सकता है और 'व्यक्तिविवेक' की टीका

---

१. दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुंकविलोकलोचने। काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमाऽद्दृत। खण्डन०, पृ० १३२७

२. जिनका साहित्यिक जीवन ई० ९८० से ई० १०२० तक माना गया है। डा० पी०वी० काणे हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स पृ० २३२ नवीन संस्करण १९५१ ई०।

३. अत्र केचिद् विद्वमानिन: .... मन्यमाना: ।
व्यक्त्य इति द्विवचनेदमाह .... यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एवं व्यंजक सहकारिता नत्रुट्यति।
यदाहु स्तदम्रान्तिवूलम् इत्यादि। ध्वन्यालोकलोचन पृ० ३३ (काव्यमाला १८९१ ई०) से उद्धृत व्यक्तिविवेक

'व्यक्तिविवेक' विचार के कर्त्ता प्रसिद्ध अलंकारिक रूपयक का समय ११०० से ११५० के आस—पास माना जाता है।[१] अत: महिमभट्ट के जीवनकाल की अवधि अधिक से अधिक ११०० तक पहुँच सकती है और इस प्रकार श्रीहर्ष का भी समय १०७५ ई० के आस—पास के पूर्व किसी प्रकार नहीं जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमाण भी हैं, जिससे श्रीहर्ष के समय की पुष्टि होती है। सर्वप्रथम राजशेखर सूरि के अनुसार राजा जयन्तचन्द्र कुमारपाल के समकालीन थे, जिनका काल सन् ११४३ से ११७४ ई० था। अत: जयन्तचन्द्र का शासन काल सन् ११६३ से सन् ११९४ ई० के मध्य ही रहा होगा। अत: श्रीहर्ष का समय ईसा की १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

'नैषधचरित' के एक प्राचीन टीकाकार 'चाण्डुपण्डित' है। इनके द्वारा की गई टीका का नाम 'दीपिका' है, जो कि उनके द्वारा संवत् १३५३ अर्थात् सन् १२९६ में लिखी गई थी।[२] सर्ग के अंत में चाण्डु पण्डित ने एक श्लोक में अपने माँ—बाप के नाम का उल्लेख करते हुए एक श्लोक में 'नैषधमहाकाव्य' को नवीन काव्य भी कहा है। इससे यह प्रतीत होता है, कि

---

१. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स पृ० २७३ पी०बी० काणे।

२. श्री विक्रमार्कसमयाच्छरदामथ त्रिपञ्चाशता समाधिकष्वितेषु।

तेषु त्रयोदशासु भाद्रपक्षे च शुक्लपक्षे त्रयोदशतिथौ रविवासरे च।।

उस समय तक 'नैषध' को नवीन काव्य के ही रूप में देखा जाता था। — ''काव्यं नवं नैषधम्''। इसके अतिरिक्त चाण्डुपण्डित ने यह भी लिखा है कि उनकी अपनी टीका से पूर्व ''नैषधचरित'' पर विद्याधर विरचित टीका भी विद्यमान थी। इन दोनों टीकाओं से पूर्व ''नैषधचरित'' का लेखन समाप्त हो चुका था। अत: ''नैषधचरित'' महाकाव्य १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखी गई होगी। इस आधार पर भी श्रीहर्ष का समय १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही सिद्ध होता है। डा० जानी द्वारा ''खण्डनखण्डखाद्य'' के आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर भी उपर्युक्त समय की पुष्टि होती है।

'नैषध' को सर्वप्रथम 'हेमचन्द्राचार्य' (१०८८—११७२ ई०) के शिष्य 'महेन्द्रसूरि' ने अपने गुरू की रचना 'अनेकार्थसंग्रह' की टीका 'अनेकार्थकैरवाकरकौमुदी' में उद्धृत किया है। यह टीका 'हेमचन्द्राचार्य' की मृत्यु के पश्चात् लिखी गयी थी। इससे भी यह सिद्ध होता है, कि लगभग ११८० ई० तक 'नैषध' महाकाव्य को प्रसिद्धि मिल चुकी थी।

गंगेश उपाध्याय (१२०० ई०) ने स्वरचित ''तत्वचिन्तामणि'' में 'खण्डनखण्ड—रवाहा' का खण्डन किया है। अत: यह संभावना करना अनुपयुक्त न होगा कि श्रीहर्ष की साहित्यिक गतिविधि का समय ११२५ ई० से ११८० ई० के मध्य ही रहा होगा। अत: श्रीहर्ष का काल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाना उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

श्रीहर्ष का निवास स्थान

श्रीहर्ष के निवास के विषय में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। किसी ने उन्हें कश्मीर का बताया तो किसी ने बंगाल का और किसी ने कान्यकुब्ज का। उन्हें बंगाली बताने वालों में सबसे प्रधान व्यक्ति प्रोफेसर श्री नीलकमल भट्टाचार्य हैं।

उन्होंने 'नैषध' से कुछ अन्तःसाक्ष्य लेकर बड़े विस्तार के साथ श्रीहर्ष को बंगाली सिद्ध करने का प्रयास किया है।[१] किन्तु आचार्य श्री रघुबीर मिट्ठूलाल शास्त्री विद्याभूषण ने दृढ़तर प्रमाणों के आधार पर भट्टाचार्य महोदय के तर्कों को निराधार तथा श्रीहर्ष को कान्यकुब्ज का सिद्ध किया है।[२]

डा० सु०कु० महोदय भी पूर्ण प्रमाण के साथ श्रीहर्ष के बंगाली होने का खण्डन करते हैं।[३]

श्रीहर्ष के माता के नाम के आधार पर श्रीहर्ष का स्थान निश्चित करने में बड़ी कल्पनायें हुईं। 'मामल्ल' नाम दक्षिण भारत का लगता है, किन्तु यदि हम यह मान भी लें कि उनका मातृकुल दक्षिण भारत था तो भी हम उन्हें दक्षिण का नहीं कह सकते क्योंकि यह भी संभव है कि श्रीहर्ष के पिता

---

१. सरस्वती भवन स्टडीज पत्रिका भाग ३, पृ० १५९ से १९४ तक।

२. ओरियन्टल कान्फ्रेन्स प्रयाग १९२६ में पठित अपने लेख में।

३. न्यू इंडियन एंटीक्वेरी भाग २, पृ० ८१ टिप्पणी में।

तीर्थयात्रा आदि किसी प्रसंग में दक्षिण भारत गये हों और वहीं कहीं विवाह कर लिया हो, या फिर काशी में ही विद्याकेन्द्र होने के कारण, दक्षिण के भी विद्वान रहते रहे हों जैसा कि आज भी है, और वहीं पर श्रीहरि पण्डित ने परिणय कर लिया हो।

यदि 'मामल्लदेवी' काश्मीर की रहीं, जैसा कि नीलकमल भट्टाचार्य ने माना है, तब भी कन्नौज या काशी के पण्डित से ही उनका सम्बन्ध अधिक संभव है।

कुछ विद्वान् उनको वाराणसी का मानते हैं। उनका मात्र यही कहना है, कि काशी नरेश जयन्तचन्द्र ही हर्ष के आश्रयदाता थे। किन्तु इस सम्बन्ध में कोई मान्य प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

'नैषध' में आये हुए कुछ विशेष शब्दों तथा अन्य प्रसंगों के आधार पर श्री भट्टाचार्य ने श्रीहर्ष को बंगाली सिद्ध करने का बड़ा प्रयत्न किया है। उनमें 'उलूल' शब्द प्रधान है। जिस समय स्वयंवर में दमयन्ती ने नल के गले में माला डाली उस समय वहां की सुन्दरियों ने प्रमोदवश अस्फुट स्वर में 'उलूल' ध्वनि की।[१]

नारायण ने इसकी टीका करते हुए लिखा है कि "विवाहघुततवे स्त्रीणांधवलाम्बुदि मंगलगीति विशेषौ गौडदेशे उलूलुइत्युच्यते। स्वदेश रीतिः

---

१. काऽपि प्रमोदास्फुटनिर्जिहानवर्णैव या मङ्गलगीतिरासाम्।

सैवाननेभ्यः पुरसुन्दरीणामुच्चैरूलूलुध्वनिरुच्चार॥ नै० १४/४९

कविना: उक्ता''।

मल्लिनाथ ने इसकी टीका में ''उदीच्यानामयमाचार:'' लिखा है। नीलकमल भट्टाचार्य का मत है कि 'उलूलु' शब्द यद्यपि आसाम और उड़ीसा में भी प्रचलित है, किन्तु इसका प्रयोग विशेष रूप से ऐसे अवसरों पर जिसका 'नैषध' में उल्लेख हुआ है, केवल बंगाल में ही होता है। अन्य प्रान्त के कवियों ने भी 'उलूलु' शब्द का प्रयोग ठीक उसी प्रसंग में किया है, जैसे श्रीहर्ष ने 'नैषध' में किया है। कवि मुरारि ने —'अनर्घराघव' में सीता विवाह प्रसंग में 'उलूलु' शब्द का प्रयोग किया है।[१] मुरारि को निश्चित रूप से काश्मीरी माना गया है।

रूचिपति ने उस नाटक की टीका में लिखा है, कि ''दक्षिण भारत की स्त्रियाँ विवाह आदि अवसरों पर 'उलूलु' ध्वनि करती हैं।''[२] १३वीं शताब्दी में गुजरात के वस्तुपाल ने भी 'नरनारायणनन्द' नामक नाटक में 'उलूलु' शब्द का प्रयोग किया है।[३]

वस्तुपाल के समसामयिक अमरचन्द ने भी 'पद्मानन्द' महाकाव्य में 'उलुलू' शब्द का प्रयोग किया है।[४]

---

१. वैदेही कखन्ध मंगलयजुसुक्तंद्विवजाना मुखे।

नारीणां च कपोलकन्दलतले केयातुलूलुध्वनि:।। अन० राघव: ३/५५

२. दक्षिणदेशे विवाहअवसरे स्त्रीमिरुलूलुध्वनि: क्रियते इत्याचार:।

३. मुदितमृगाक्षी मंगलोलूलुनाद:। १५/१६ नरनारायणनन्द —

४. इन्द्राणियुलूलु विलसतपति शब्दपूरेनि:शेषदिङ्मुखमवदधवलानुवाद:। पद्मानन्दसर्ग ९/९८

परकालिक साहित्य शास्त्रकारों ने तो 'उलूलु' शब्द को विवाह प्रसंग में एकवर्णय विषय ही बताया है।

'छान्दोग्य उपनिषद्' में भी 'उलूलु' शब्द आया है।

अत: 'उलूलु' शब्द कोई ऐसा शब्द नहीं जो केवल बङ्गाली कवि ही जानता हो। यदि 'भट्टाचार्य' के अनुसार नारायण की टीका के आधार पर हम श्रीहर्ष को बङ्गाली मान भी लें तो फिर रुचिपति के आधार पर दक्षिणात्य मानना पड़ेगा, और वस्तुपाल के उल्लेख के आधार पर गुजराती भी।

वास्तव में श्रीहर्ष के समय तक आचार्यों ने 'उलूलु' शब्द का विवाह वर्णन प्रसंग में परिगणन कर लिया था और संभव है कि श्रीहर्ष ने भी ऐसा ही वर्णन अपने महाकाव्य में किया हो।

कुछ आलोचकों के अनुसार मैथिलीकवि ''विद्यापति'' ने अपने 'पुरुष परीक्षा' नामक ग्रन्थ में श्रीहर्ष को गौड़देश का निवासी बताया है – ''वभूव गौड़विषये श्रीहर्षो नाम कविपण्डित:। स च नलचरिताभिधानं काव्यं कृत्वा ... ... तत्काव्यं दर्शयितुं पण्डितमण्डलीमुद्दिश्य वाराणसी जगाम।'' राजशेखर सूरि ने भी अपने ग्रंथ –'हरिहरप्रबन्ध' में श्रीहर्ष को बंगाली कहा है। [१]

इसके अतिरिक्त ''गोडीर्वीशकुत्सप्रशस्ति'' तथा ''नवसाहसाङ्कचरित'' नामक ग्रंथ के आधार पर तथा 'नैषधचरित' के कुछ वर्णनों के आधार पर उन्हें बङ्गदेश निवासी माना जाता है। श्रीहर्ष को बङ्गाली बताने का दूसरा क़ारण

---

१. ''श्रीहर्षवंशे हरिहर: गौडदेश्य:''। – हरिहरप्रबन्ध

'शंखवलय' शब्द है। विवाह के अवसर पर आभूषण से अलंकृत दमयन्ती का वर्णन करते हुए 'नैषध' में लिखा है कि दमयन्ती की बाहें मङ्गल शंखवलय से सुशोभित थी। मानो उन बॉहुओं से कोमलता सीखने के लिए बालमृणालदण्ड उनकी सेवा कर रहे हों। [१]

नारायणन् ने इसकी टीका करते हुए लिखा है ''गौडदेशे विवाहकाले शंखवलयधारणमाचार:।'' और श्रीभट्टाचार्य महोदय ने उस गौड से बंगाल का अर्थ लगाया और यह प्रथा केवल वंङ्गाल की बता दी। [२]

किन्तु 'शंखवलय' का प्रयोग महाभारत तथा कादम्बरी में भी हुआ है। महाभारत में अज्ञातवास के लिए प्रस्तुत पाण्डवों ने अपनी अलग—अलग वेश भूषा बताई है। अर्जुन ने अपनी वृहन्नता का रूप बताते हुए शंखवलय पहनने के लिए कहा है। [३]

भट्टाचार्य महोदय ने पहले तो विराटराज (मत्स्यदेश) को ही बंगाल में स्थित करना चाहा, किन्तु उन्होंने अपने तर्क के आधार पर इतिहास और भूगोल दोनों की आँखों में धूल झोंक सके।

---

१. विवाहे स्नानशुभ्रांगभूषोलूलुत्रयीखा : वेदीसीमन्तता रेक्षालाजामंगल वर्तनम्। का०क०ल० ५/८६

२. अथयत्तदजायत् सो सावादित्य: तम् जायमानं घोषा अलूलवो नूदतिषन् तस्या स्योदयं प्रति प्रत्यायनं पति घोषा अलूलवोनूत्रिष्ढन्ति।। छा०उ० ३/६३

३. उपास्यमानाविव शिक्षितुं ततो मृदुत्वमप्रौढमृणालनालया।
विरेजतुर्माङ्गलिकेन संयुक्तौ भुजौ सुदत्या वलयेन कम्बुन:।।

जब मत्स्यदेश की स्थिति बङ्गाल से दूर सिद्ध हुई तो उन्होंने अर्जुन को बंङ्गाली वेश में ही विराट के यहा गुप्त करना चाहा।

उन्होंने बताया कि अर्जुन ने तीर्थयात्रा प्रसंग में बङ्गदेश की भी यात्रा की थी। उसी समय वहॉ के आचार—व्यवहार से भी परिचित हो गये होंगे।[१]

भट्टाचार्य महोदय का तर्क उन्हीं के प्रतिकूल जान पड़ता है। क्या जो तर्क उन्होंने अर्जुन के लिए दिये वही श्रीहर्ष के लिए नहीं दिये जा सकते थे। संभव है, श्रीहर्ष ने भी बंग देश की तीर्थयात्रा की हो, और वहाँ की वेषभूषा देखी हो, अथवा काशी में ही धर्म तथा विद्या के केन्द्र होने के कारण वंङ्गाल की स्त्रियों को शंखवलय धारण किये हुए देखा हो, काशी, कन्नौज के सम्पन्न बाजारों में शंखवलयों को बिकते देखा हो।

'कादम्बरी' में जाबालि आश्रम वर्णन में भी 'शंखवलय' शब्द का प्रयोग हुआ है।

श्रीहर्ष की चिन्तामणि मन्त्र के प्रति भक्ति पर भट्टाचार्य ने उन्हें बंगाली बताया, क्योंकि उन्होंने मन्त्र—तन्त्रवाद का उद्‌गम् बंगाल ही बताया है। कश्मीर तथा दक्षिण भारत में भी मंत्रों का वैसा ही प्रचार था जैसा कि बंगाल में। अन्ततः यह तर्क निराधार है।

वाह्य साक्ष्य से भी श्रीहर्ष को कन्नौज प्रान्त का होना सिद्ध होता है। फर्रुखाबाद जिले में कन्नौज के पास मीरा सराय नाम का एक कस्बा है, जहाँ

---

१. अंग बंग कलिंगेषु या नितिर्थानिग्रचित्। जगाम् तानि सर्वाणि पुणयान्यायतानानिवा।। म०आ०प० ९/२१५

पर कन्नौज का रेलवे स्टेशन है। यहाँ पर एक विशेष बस्ती कान्यकुब्ज मिश्रों की है। ये लोग शांत प्रकृति के हैं और अपने को श्रीहर्ष का वंशज बताते हैं।

उनका कहना है कि "हम लोग पहले त्रिपाठी थे, परन्तु श्रीहर्ष ने एक यज्ञ किया जिससे हमलोग मिश्र कहे जाने लगे।" ये लोग भी श्रीहर्ष का किसी राजा द्वारा सम्मानित होना भी बताते हैं। इस प्रकार अन्त: तथा वाह्य दोनों साक्ष्यों के आधार पर श्रीहर्ष कन्नौज प्रान्त के ठहरते हैं। साथ ही उन्हें काशी से भी विशेष लगाव था।

'चाण्डुपण्डित' ने भी उनका काशी में निवास करना बताया है। स्वयंवर सभा में काशीराज का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने काशी का बड़े अनुराग के साथ वर्णन किया है। "वाराणसी भूलोक से परे है, वहाँ रहना देवलोक में वास करने जैसा है।" अतएव उस तीर्थ में मरने वालों को मुक्ति ही मिलती है। [१] अन्यथा "मुक्ति के अतिरिक्त स्वर्ग से बड़ा कौन सा पद है, जो अधिक आनन्द देगा, इत्यादि। [२] इस प्रकार श्रीहर्ष कन्नौज के हैं, या काशी के या फिर बंगाल प्रान्त के, यह अभी निश्चित नहीं हुआ है। अत: किसी निर्णय पर पहुंचना दुरूह ही है, किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि श्रीहर्ष कई राजाओं के आश्रित कवि रहे होंगे।

---

१. तथा च वाराणस्यां मुक्तिक्षेत्रे नुमूतपरब्रह्मस्वख्यो नंगदर्शनादिना धर्म—कर्म मध्यमध्यासीनः इत्यादि।।
नैषध दीपिका का प्रारम्भ।

२. वाराणसी निविशते न वसुन्धरायाम् तत्र रीतिर्मुख भुजां भुवने निवासः।
तीर्थमुक्तवपुष्पामत एव मुक्तिः स्वर्गापरं पद मुदेतु मुदेतु कीदृक्।।

महाकवि श्रीहर्ष का व्यक्तित्व

श्रीहर्ष की कृतियों में — विशेषकर उनके "नैषध चरित" महाकाव्य से उनके व्यक्तित्व का पूर्ण ज्ञान पाठक को प्राप्त हो जाता है। वे एक उच्चकोटि के दार्शनिक तो थे ही साथ ही ईश्वर में तथा उसकी भक्ति में उनका पूर्ण विश्वास था। [१] किन्तु वे किसी एक देवता के भक्त रहे हो ऐसी बात नहीं है। नैषध के २१वें सर्ग में उन्होंने भगवान विष्णु के प्राय: सभी रूपों की प्रशंसा की है। [२]

इसके अतिरिक्त उन्होंने सरस्वती तथा शिव के प्रति भी अपनी आस्था और भक्ति का प्रदर्शन किया है।

प्राय: सभी देवताओं के प्रति उनके हृदय में आदर की भावना विद्यमान थी। किन्तु फिर भी अर्धनारीश्वर रूप में विद्यमान भगवान शंकर के प्रति उनका विशेष लगाव था। [३]

कर्मवाद के सिद्धान्तों में उन्हें विश्वास था। [४] पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों का प्रसंग उन्होंने दिया है। [५] संस्कृत के अन्य कवियों की भाँति वे भी भाग्यवादी

---

१. इतीरिता तच्चरणात् परागं गीर्वाणचूडामणिमृष्टशेषम्।
तस्य प्रसादेन सहाज्ञयाऽसावादाय मृद्ध्र्नाऽऽदरिणी बभार। नै० १०/७३

२. स्वर्णकेशकशतानि च हेम्न: पुण्डरीकघटनां रजतस्य।
मालयाऽरूणमणे: करवीरं तस्य मूदर्ध्नि पुनरुक्तमकार्षीत्।। नै० २१/४२

३. गुणानामास्थानी नृपतिलक:। नारीतिविदितां रसस्फीतामन्थस्तव च तव वृत्तं च कवितु: भवित्रि
वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुं परीरम्भक्रीडाचरणशरणा मन्वह्महम्।। नै० १४/८८

४. मृगस्यलोभात्खलु सिंहीकाया: मूनुर्भृगाङ्क कवलीकरोति। नै० २२/६६

५. पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धा: सम्पदो विपद एव विमृष्या:। नै० ५/१७

थे।[१]

वेदों के प्रति उनकी पूर्ण आस्था थी। वेदों को उन्होंने तृतीय नेंत्र कहा है।[२] सस्कृत भाषा के प्रति उनका असीम आदर था।[३] देशभक्ति के भी वे पूर्ण पक्षपाती थे।

भारतवर्ष की अत्यन्त गौरव भरे शब्दों में प्रशंसा कर उन्होंने उसे स्वर्ग से भी अधिक श्रेष्ठ कहा है।[४]

'नैषधचरित' के १९वें सर्ग के सप्तम श्लोक की कल्पना से प्रतीत होता है, कि वे संभवत: कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी अथवा काठक संहिता के मानने वाले थे, क्योंकि उन्होंने उदात्रस्वर को ऊपर सीधी रेखा से चिन्हित किये जाने का प्रसंग दिया है जो कि इन्हीं दोनों संहिताओं में उपलब्ध होता है। जीवन के अनेक पहलुओं तथा समस्याओं पर भी उन्होंने विचारपूर्ण निर्णय दिये हैं। दान, धर्म, भक्ति, जीवनमुक्ति, जीवन की क्षणभंगुरता, गृहस्थाश्रम, सतीत्व, प्रेम—भावना, यज्ञ, मूल्यों की सापेक्षता, आखेट आदि अनेक विषयों पर उन्होंने अपने महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं।

श्रीहर्ष एक स्वाभिमानी कवि थे, उनको अपनी विद्वता पर तथा अपने

---

१. मम श्रमश्चेतनयानया फली बलीयसाऽलोपि च सैव वेधसा।
न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुभीश्वर।। नै० ९/१२६

२. दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि हाशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्ववोधिकाम्।। नै० १/६

३. अन्योऽन्यभाषानवबोधभीते: संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु:
दिग्भ्य: समेतेषु नरेषु वाग्भि: सौवर्गवर्गो न नरैरचिह्नि।। नै० १०/३४

४. वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्य: स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु। नै० ६/९७

काव्य की सरसता पर गर्व था। उनके मतानुसार जो व्यक्ति उनके ग्रंथ में आनन्द की उपलब्धि नहीं कर सकते, वे नीरस व्यक्ति ही कहे जा सकते हैं। सहृदय विद्वानों के अन्त:करण को तो उनका काव्य आनन्दित करता ही है। [१]

उनका काव्य तो वस्तुत: अमृत का उत्पादक साक्षात् क्षीरसागर ही है।[२] परन्तु यह भी सत्य है कि महाकवि श्रीहर्ष का काव्य कहीं–कहीं दुरूह भी हो गया है, किन्तु ऐसा भी हो सकता है, कि उन्होंने जानबूझ कर ऐसा किया हो जिससे कोई पाण्डित्य प्रदर्शन हेतु दुष्टजन उसका रसास्वादन न कर सकें। वे ऐसे रसिक सहृदय सज्जनों को पाठकों के रूप में चाहते हैं, जो श्रद्धा के साथ गुरू की अराधना करके काव्यगत दुरूह ग्रन्थियों को सुलझाकर महाकाव्यरूपी रस कविता प्रवाह में गोता लगाकर आनंद प्राप्त करने के इच्छुक हों। [३]

अपने महाकाव्य में श्रीर्ष ने सर्वथा एक नवीन मार्ग का अनुसरण ही किया है। [४]

आधुनिक युग के समालोचकों (विशेषत: यूरोपीय विद्वानों ने तथा उन्हीं के समान दृष्टिकोण रखने वाले भारतीयों ने भी) जो कि अपने काव्य में कथाप्रवाह घटनाक्रम का स्वाभाविक विकास, चरित्र–चित्रण सम्बन्धी स्पष्टता,

---

१. मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधय:।
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादर भरै:।। नै० २२/१५०

२. स परमपर: क्षीरोदन्वा नु मदीयमुदीर्यते।
मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदानमोदनम्।। नै० २२/१५१

३. ग्रन्थग्रन्थिरिह ....व्यासज्जनं सज्जन:।। नैषध – २२/१५२

४. तर्केष्वप्यसमश्रमस्य ....इत्यादि। – नैषध – ११/१३८

अन्तर्द्वन्द का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा भाषा की विशदता का अन्वेषण करने में अभ्यस्त हैं, भाषा सम्बन्धी दुरूहता, कल्पनाओं की दुरूहता, शैली की कृत्रिमता, वस्तुविन्यास का असौष्ठव, शब्दों के प्रयोगों की अतिशयिता, आनुषङ्गिक वस्तुओं के अनावश्यक विस्तृत वर्णन तथा हास्य रस सम्बन्धी ग्राम्यता की दृष्टि से 'नैषध' महाकाव्य की कटु आलोचना की है।

किन्तु किसी प्राचीन रचना की परीक्षा आधुनिक आदर्शों पर करना उचित प्रतीत नहीं होता है।

अतः हमें तत्कालीन युग की संस्कृति तथा समाज के आदर्शों तथा प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए ही तत्सम्बन्धी रचना की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

इस सिद्धान्त के आधार पर जब हम महाकवि श्रीहर्ष तथा उनकी कृतियों के बारे में विचार करते हैं तो हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि महाकवि श्रीहर्ष संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य महाकवियों में से एक हैं। श्रीहर्ष का अकेला महाकाव्य 'नैषधीयचरितम्' ही इनके गुणों की महत्ता एवं विद्वता का परिचायक है।

जहाँ तक पाण्डित्य प्रदर्शन, योग्यता, विद्वता और व्युत्पत्ति का प्रश्न है, श्रीहर्ष को हम सर्वोच्च स्थान पर बैठा देते हैं। इसी कारण वृहत्त्रयी के अन्तर्गत 'नैषधचरित' को सर्वोत्कृष्ट रत्न के रूप में स्वीकार किया गया है।

'नैषधचरित' में यदि हमें एक ओर भाषा—सौन्दर्य का दर्शन होता है, तो दूसरी तरफ भाषा—सौष्ठव का भी, एक ओर यदि पदलालित्य की शोभा

दर्शनीय है, तो दूसरी ओर स्वर—माधुर्य की छटा अद्वितीय है। एक ओर यदि प्रसादगुण की प्रचुरता का अवलोकन होता है, तो दूसरी ओर अर्थान्तरन्यास का वैभव भी।

एक ओर यदि कलापक्ष की प्रधानता है, तो दूसरी ओर भावपक्ष की उदात्तता भी। एक ओर यदि कल्पनाओं की प्रधानता है, तो दूसरी ओर चिन्तन की विशालता भी दर्शनीय है। एक तरफ यदि शृंगार रस का दर्शन होता है, तो दूसरी ओर करुण का द्रवीभाव भी। [१]

श्रीहर्ष ने संस्कृत काव्यों की रीति परम्परा में द्वयर्थक, त्रयर्थक अथवा यत्र—तत्र इससे भी अधिक अनेक अर्थक रचना की एक नवीन विधा को जन्म दिया। पाँच नलों सम्बन्धी वर्णन प्रसंग में उन्होंने इस प्रकार के द्वयर्थक से लेकर पाँच अर्थ वाले श्लोकों की रचना की है। इस वर्णन में श्रीहर्ष ने अपनी अपूर्व श्लेष चातुरी व्यक्त की है। [२]

श्रीहर्ष की दूसरी विशेषता यह रही कि उन्होंने अपने से पूर्व चली आयी काव्य लेखक पद्यति का अंधानुकरण नहीं किया है। उन्होंने कालिदास से केवल कल्पना को, भारवि से केवल अर्थगौरव को, माघ से पाण्डित्य प्रदर्शन को ही सीखा है। वे एक स्वाभिमान सम्पन्न कवि थे। उन्हें अपनी विद्वता तथा

---

१. ग्रन्थ ग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यारी प्रयत्नान्मया। नै० २२/१५२

२. देव: पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयतेन किमुन व्रियते भवत्या।

नायं नल: खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वर: कतर: पुनस्ते — नै० १३/३४

अपने काव्य की सरसता पर पूर्ण विश्वास था।[1]

अपने आलोचकों द्वारा की गई कटु आलोचना से वे हतोत्साहित भी नहीं हुए हैं।[2]

श्रीहर्ष अत्यन्त गंभीर स्वभाव के कवि थे। उन्होंने दर्शनशास्त्रों का भली भाँति अध्ययन किया था। उन्होंने न्यायसिद्धान्तों के खण्डन तथा वेदान्त मत के मण्डन में ''खण्डनखण्डखाद्य'' नामक ग्रंथ की रचना भी की। उनकी प्रवृत्तियाँ धार्मिकता से पूर्णतया ओत—प्रोत दृष्टिगोचर होती हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि उनका व्यक्तित्व महान था तथा उनकी प्रमुख रचना 'नैषधीयचरितम' महाकाव्य उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा का निदर्शन है।

---

१. मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयन्ति सुधीभूयः मुधियः।

किमस्या नाम स्यादरसतुरुषानादर भरैः ।। नै० २२/१५०

२. सः परस्परः क्षौरोदन्वान् यदीपमुदीयते।

मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम्।। नै० २२/१५१

श्रीहर्ष का पाण्डित्य

महाकवि श्रीहर्ष सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता, अत्यन्त मेधावी, बुद्धिसम्पन्न थे। उनके सम्बन्ध में 'नैषधचरित' महाकाव्य के टीकाकार विद्याधर ने उनकी बहुज्ञता का परिचय देते हुए कहा है —

''अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारो नयो,

वेदार्थावगति पुराणपठितिर्थस्यान्यशास्त्राण्यपि।''

अतः उनका पाण्डित्य अगाध है। उनका काव्य प्रतिभा एवं दार्शनिक ज्ञान के जाज्वल्य उदाहरण तो साक्षात् 'नैषधचरित' एवं 'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रंथ ही हैं। इसके अतिरिक्त वे वेदों वेदाङ्गों, ज्योतिष, धर्म, अर्थ, काम, तन्त्र, संगीत, गणित आदि शास्त्रों के ज्ञान में पूर्णतया प्रवीण थे। अश्वशास्त्र, धनुर्वेद आयुर्वेद, आदि का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था।[१] इन सभी शास्त्र आदिको से उनका 'नैषधचरित' महाकाव्य ओत—प्रोत है। निम्नलिखित उदाहरण में उन्होंने अप्रस्तुतयोजना के रूप में श्रुतिज्ञान का आश्रय लिया है।

''यतो वाचो निवर्तन्ते। आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्''

वेदाङ्गों की दृष्टि से शिक्षाशास्त्र के सिद्धान्त को महाकवि ने बहुत सुन्दर ढंग

---

१. अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।

अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयक्रियाम्।। नै० १/५

से प्रस्तुत किया है।[१]

श्रीहर्ष का व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान तो और भी प्रशंसनीय है। एक स्थल पर उन्होंने ''सु और जस्'' इन प्रथमा विभक्ति के प्रत्ययों को लेकर व्याकरण सम्बन्धी विचित्र चमत्कार प्रस्तुत किया है।[२] हंस द्वारा दमयन्ती के समक्ष राजा नल की जो प्रशंसा की गई है, वह श्लेष अलङ्कार के माध्यम से है। अपने व्याकरण सम्बन्धी पाण्डित्य के ही कारण वे नवीन शब्दों का प्रयोग कर सकने में सफल हो सके हैं। जैसे – 'सूननायक', 'प्रतीचर', 'हस्तास्पृशम्' इत्यादि अनेक नवीन शब्दों का प्रयोग व्याकरण के आधार पर ही वे कर सके हैं। उनका ज्योतिषी सम्बन्धी ज्ञान भी दर्शनीय है।[३] जिस प्रकार सूर्य, बुध एवं शुक्र इन दो ग्रहों के साथ समय व्यतीत करता हुआ उदय को प्राप्त होता है, उसी प्रकार राजा नल भी सूर्य के सदृश उदय को प्राप्त हुए। दर्शनशास्त्र, न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग मीमांसा तथा अद्वैत वेदान्त और चार्वाक एवं बौद्ध दर्शन सम्बन्धी अपने महान पाण्डित्य का प्रदर्शन तो उन्होंने अपने

---

१. स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी विभर्तु या।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखाखा न वा।। नै० २/९८

२. क्रियते चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैः तावत्क्षमा नाम पदं बहु स्यात्।। नै० २/२३

३. अजस्त्रमभ्या' समुपेयुषा सम मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने–दिने।। नै० १/१७

'नैषधीयचरितम्' में ही अनेक स्थलों पर किया है।[1] वैशेषिक दर्शन सम्बन्धी 'तम्' द्रव्य का खण्डन अत्यन्त दर्शनीय है।[2] 'नैषध' में स्थान—स्थान पर पौराणिक कथाओं का भी उल्लेख मिलता है। इससे उनके इतिहास, पुराण सम्बन्धी ज्ञान का स्पष्ट पता लग जाता है।[3] स्वभाव से इतने गंभीर और विद्वान होते हुए भी महाकवि श्रीहर्ष विनोदप्रिय भी थे। जैसे — कि 'नैषधचरितम्' में बारात सम्बन्धी वर्णन में महाकवि ने राजा नल के छोटे साले द्वारा विविध प्रकार से व्यङ्ग्य एवं विनोदप्रिय हास—परिहास कराया है।

उपर्युक्त रूप से प्राय: सभी सांसारिक विषयों का ज्ञान होने के साथ ही साथ वे योगी भी थे और समाधि दशा में भगवान् का साक्षात्कार किया करते थे।

श्रीहर्ष का एकमात्र ''खण्डनखण्डखाद्य'' ग्रन्थ ही उनके पाण्डित्यपूर्ण प्रदर्शन के लिए पर्याप्त है। इसमें ग्रंथकार ने अपने प्रखर पाण्डित्य से अनेक प्रकार के तर्कों तथा प्रयुक्तियों के द्वारा बड़े उत्तम ढंग से अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। जिसको देखकर विद्वानों को इनके पाण्डित्य प्रचुरता की मुक्तकंठ से प्रशंसा करनी ही पड़ती है। अन्य कवियों ने प्राय: अपनी विद्वता के प्रदर्शन हेतु ऋतु, प्रभात, चन्द्र आदि का वर्णन अपनी रचनाओं में

---

१. स्वश्च ब्रह्म च संसारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम्।
इति स्वोच्छित्तिमुक्तयुक्ति वैदग्धी वेदवादिनाम्।। नै० १७/७३

२. जनेन जानताऽस्मीति कायं नायं त्वमित्यसौ।
त्याज्यते ग्राह्यते चान्यदहो! श्रुत्याऽतिधूर्त्तया।। नै० १७/५४

३. किं वित्तं दत्त? दुष्टेयमदातरि हरिप्रिया।
दत्वा सर्वधनं मुग्धो बन्धनं लब्धवान् बलि:।। नै० १७/८०

अत्यधिक रूप से किया है, किन्तु श्रीहर्ष ने ऐसा वर्णन कहीं नहीं किया है। जहाँ कहीं भी उन्होंने मूलकथा से पृथक् स्वतन्त्र कथा की कल्पना की है, वहॉ पर यह प्राकृतिक वर्णन मशीन के पुर्जे के समान ठीक–ठीक बैठ जाती है, और ऐसा आभास होता है, कि इसके बिना रचना अधूरी एवं बेकार थी। जैसे– राजाओं के वर्णन प्रसंग में सरस्वतीमुख से काशी नरेश का वर्णन कराते हुए महाकवि ने 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' वचन का अत्यन्त उत्तमयुक्ति से समर्थन किया है। [१]

नल के पाण्डित्य–प्रदर्शन प्रसंग में स्थान–स्थान पर श्लेष का वर्णन हुआ है, किन्तु इन्द्र आदि चारो देवों के साथ नल का तथा नल के साथ चारो देवों का एक साथ वर्णन करके महाकवि ने जो श्लेषोक्ति चातुर्य का प्रदर्शन किया है, वह उनके पाण्डित्य की पराकाष्ठा है। [२]

महाकवि ने स्वयंवर में आयी हुई सरस्वती देवी के प्रसंग का जो वर्णन किया है, उसमें उनका बहुश्रुतत्व स्पष्ट प्रतिभाषित होता है। [३]

'नैषधीयचरितम्' की कथावस्तु को श्रीहर्ष ने उक्ति–वैचित्र्य द्वारा रोचक

---

१. वाराणसी निवसते न वसुन्धरायां तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः स्वर्गात्परं पदमुदेतु मुदेतु कीदृक्? नै० ११/११६

२. 'देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलः खलु तवास्ति महानलाभो यद्योनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते'।। नै० १३/३३

३. मध्येसभं साऽवततार बाला गन्धर्वविद्याम' यकण्ठनाला।
त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा साहित्यनिर्वर्तितदृक्तरङ्गा।। नै० १०/७४

शैली में प्रस्तुत किया है। महाकवि श्रीहर्ष अपनी उच्चकोटि की काव्यशैली के द्वारा उस मूलकथा भाग का — दमयन्ती स्वयंवर, हंस के करुण क्रन्दन, नल—दमयन्ती की विरहावस्था के वर्णन प्रसंगों, दौत्यकर्म के लिये अदृश्य रूप में दमयन्ती के भवन में स्थित होने के प्रसंगों एवं कुछ स्वरचित कल्पनाओं के द्वारा कथा का विस्तार किया है, परन्तु उत्प्रेक्षित अंश कहीं भी कथा प्रवाह में बाधा नहीं उत्पन्न करते हैं, वरन् उसे रोचक बनाते हैं। महाकवि श्रीहर्ष उद्भट दार्शनिक एवं महावैयाकरण थे। इन्होंने उत्प्रेक्षित अंशों के लिये जो भी कल्पनायें की हैं, वे कथा के लिये आवश्यक सी प्रतीत होती हैं। प्रत्येक स्थान पर श्रीहर्ष ने नूतन कल्पनाओं से वस्तु का अभिनव ढंग से वर्णन किया है जैसे कि उन्नीसवें सर्ग में नारी ह्दय की कोमलता एवं पुरुष ह्दय की कठोरता का सुन्दर कल्पना द्वारा चित्रण करते हुये प्रभात का ह्दयहारी वर्णन किया है। [१]

श्रीहर्ष ने केवल पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये जानबूझ कर किसी वस्तु का वर्णन नहीं किया है फिर भी पूर्ववर्त्ती कवियों के प्रभाव से कहीं—कहीं अपनी योगशास्त्र चार्वाक दर्शन एवं वैशेषिक दर्शन के ज्ञान को प्रकट किया है। [२] इसी प्रकार अनेक पद्यों द्वारा उन्होंने अपने व्याकरण के ज्ञान को प्रकट किया है। जैसे — हंस के मुख से राजा नल का वर्णन कराते हुये कवि ने अत्यन्त कुशलता से ''अपदं न प्रयुञ्जीत'', ''एकवचनमुत्सर्गत: करिष्यते'' आदि व्याकरण

१. ''उडुपरिषद: किं नार्हत्त्वं? निश: किमु नौचिती? .... मृतं बत न दुतम्॥'' नैषध १९/१९

२. ध्वान्तस्य वामेरू! विचारणायां वैशेषिकं चारूमतं मतंमें।

औलूकमाहु खलु दर्शनं तत्क्षयं तमस्ततत्व निरूपणाय॥ नैषध २२/३५

सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है।[१]

श्रीहर्ष ने राजकुल में प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिये ''विचित्र काव्य रचना'' मे अपना पाण्डित्य प्रदर्शन किया। सर्वप्रथम महाकवि भारवि ने वैचित्रय युक्त काव्य रचना का प्रारम्भ किया, भारवि के अनन्तर महाकवि माघ एवं उन दोनों के अनुकरण पर महाकवि श्रीहर्ष ने इस शैली को और अधिक परिवर्धित एवं समृद्ध किया। 'नैषधीयचरितम्' इस परम्परा का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। श्रीहर्ष की इस शैली का विद्वतसमाज में अत्यधिक आदर प्राप्त हुआ। इन तीनों महाकवियों भारवि माघ एवं श्रीहर्ष में श्रीहर्ष को ही सर्वश्रेष्ठ माना है –

''उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिन: पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणा:।।
तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदय:।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघ: क्व च भारवि।।''

आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' में कवियों की काव्य रचना प्रवृत्ति के हेतुभूत तीन मार्गो का प्रतिपादन किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं– (१) सुकुमार मार्ग, (२) विचित्र मार्ग, (३) मध्यम मार्ग। आचार्य कुन्तक ने कवि स्वभाव के आधार पर मार्गों का प्रतिपादन किया है।[२]

---

१. क्रियते चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात्।। नैषध ३/२३

२. सम्प्रति तत्र ये मार्गा: कविप्रस्थानहेतव:।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मक:।। – वक्रोक्ति जी० १/२४

(क) सुकुमार मार्ग :-

सुकुमार मार्ग, कवि की दोषरहित किसी अपूर्व शक्ति के द्वारा समुल्लसित होने वाले, हृदयावर्जक शब्द एवं अर्थ के कारण, 'रमणीय' होता है। यह बिना किसी प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से उत्पादित अलंकारों से युक्त होता है।[१] अर्थात् सुकुमार मार्ग में जो भी अलंकारादि तथा वैचित्र्य होता है, यह कवि की स्वाभाविक शक्ति से ही निष्पन्न होता है। सुकुमारता के सौन्दर्य से, रसमय उत्पन्न होने वाला वैचित्र्य, जहाँ विराजमान होता है, अर्थात् सौन्दर्यातिशय का पोषण करता है, वह सुकुमार नाम का मार्ग होता है।[२]

कुन्तक के अनुसार बाल्मीकि, कालिदास आदि इस मार्ग के कुशल कवि हैं। इसी प्रकार महाकवि श्रीहर्ष विचित्र काव्य रचना करने के कारण विचित्र मार्ग के कवि हुये।

संभवत: 'नैषधीयचरितम्' की रचना के समय तक विचित्र मार्ग विद्वत्समाज में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुका था। इस प्रकार के काव्य विद्वत्समाज को आप्लावित करने में पूर्ण समर्थ थे। अत: कविगण स्वयं इस विचित्र मार्ग पर ही रचना करने में गौरव का अनुभव करते थे। विचित्र मार्ग की परम्परा पर

---

१. अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुर:।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषण:।। वक्रोक्ति जी० १/२५

२. सौकुमार्यमाभिजात्यं तस्य परिस्पन्दस्तद्विद्वाह्लादकारित्वलक्षणं रामणीयकं तेन स्पन्दतेरसमयं संपद्यते। यत्र विराजते शोभातिशयं पुष्णातीति सम्बन्ध:। – वक्रो० जी० व्याख्या पृ० १०४

आधारित महाकाव्यों को "वृहत्रयी" अभिधान से विभूषित किया गया। ये महाकाव्य किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम् एवं नैषधीयचरितम् हैं। उपर्युक्त तीनों महाकाव्यों के लिये प्रयुक्त 'वृहत्' पद का प्रयोग संभवत: उनके विशाल काव्य—कलेवर को दृष्टि में रखकर ही किया गया है। 'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य में विचित्र मार्ग के काव्यगुण चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुये हैं। विचित्र मार्ग का लक्षण है — शब्द और अर्थ के अन्दर उक्त्विैचित्र्य रूप वक्रता का स्फुरित होना। इस परम्परा के कवियों ने कलापक्ष को अधिक महत्त्व दिया है। अलंकारों का प्रयत्न पूर्वक सन्निवेश, अतिश्योक्ति का चमत्कारी विन्यास, तथा वैदुष्य के प्रदर्शनार्थ क्लिष्ट भाषा का प्रयोग, इस विचित्र मार्ग की अपनी विभूति है।

विचित्र मार्ग :-

महाकवि भारवि, माघ, बाणभट्ट एवं श्रीहर्ष विचित्र मार्ग के कवि हुए, क्योंकि इनके काव्य उक्ति वैचित्र्य से पूर्ण हैं। विचित्र मार्ग में, कवि की प्रतिभा के प्रथमोल्लेख के समय शब्द एवं अर्थ के अन्दर 'उक्तिवैचित्र्य रूप' वक्रता स्फुरित होती हुई सी प्रतीत होती है। [१] इसमें कविगण एक ही अलंकार के प्रयोग से असन्तुष्ट होकर हार इत्यादि में मणिविन्यास के समान, एक अलंकार के लिये दूसरे अलंकार की रचना करते हैं। [२] इसमें कवि किसी नवीन वस्तु

---

१. प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।

शब्दाभिधेययोरन्त: स्फुरतीव विभाव्यते।। वक्रो० जी० १/३४

२. अलंकारस्य कवयो यत्रालंकरणान्तरम्।

असन्तुष्टा निबन्धन्ति हारोदर्यणिबन्धवत्।। वक्रो० जी० १/३५

का वर्णन नहीं करता है, परन्तु "उक्ति—वैचित्र्य" के द्वारा उसी वस्तु को लोकोत्तर सौंदर्य की श्रेणी में पहुँचा देता है। [१] जैसे — महाकवि श्रीहर्ष ने "महाभारत के प्राचीन एवं लघु कथानक नल—दमयन्ती कथा" को उक्ति् वैचित्र्य एवं नूतन कल्पनाओं से सर्वथा नवीन बना दिया है। इसमें वाक्यार्थ शब्द एवं अर्थ की अभिधा शक्ति से भिन्न व्यङ्ग्य रूप व्यञ्जना व्यापार द्वारा निबद्ध किया जाता है। [२] जहॉ वक्रोक्ति की विचित्रता प्राणभूत होती है, उसी के कारण अलौकिक अतिशय की उक्ति परिस्फुरित होती है, वह अत्यन्त कठिनता से चलने वाला "विचित्र मार्ग" है। [३]

(ग) मध्यम मार्ग -

मध्यम मार्ग में, सुकुमार मार्ग और विचित्र मार्ग की विशेषतायें संयुक्त रूप से उपलब्ध होती है। इसमें कवि की सहज प्रतिभाजन्य एवं आहार्य (व्युत्पत्ति जन्य) कान्ति के उत्कर्ष से शोभित होने वाली सुकुमारता एवं विचित्रता संकीर्ण होकर शोभित होती है, [४] तथा किसी अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि

---

१. यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम्।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते।। वक्रो०जी० १/३८

२. प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाचयवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तिस्य कस्यचित्।। वक्रो०जी० १/४०

३. विचित्रों यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीतितायते।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा।। वक्रो जी० १/४२

४. वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र संकीर्णतां गते।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी।। वक्रो०जी० १/४९

करते हैं। आचार्य कुन्तक ने मातृगुप्त एवं मंजरी को इस मार्ग का निपुण कवि बताया है, जिसके काव्यों मे माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं अभिजात्य आदि गुण मध्यम वृत्ति का आश्रयण कर संघटना की शोभा के अधिक्य का पोषण करता है। [१]

---

१. माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यताम्।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम्।। वक्रो० जी० १/५०

श्रीहर्ष की काव्यप्रतिभा

कालिदासोत्तर काल के कवि चमत्कारवादी या कलावादी हैं, कालिदास की तरह रसवादी नहीं। यह चमत्कारवाद इतना अधिक बढ़ता गया कि काव्य भी 'सूक्ति' मात्र रह गया, और कभी—कभी तर्कशास्त्र या दर्शनशास्त्र की पंक्तियों की तरह 'ग्रन्थग्रन्थि' से जटिल होने लगा।

श्रीहर्ष काव्य को 'ग्रन्थग्रन्थि' प्रदर्शन का साधन मानते हैं। श्रीहर्ष ने अपने काव्य को रसिक सहृदयों के लिए न लिखकर पण्डितों के लिए लिखा है। वे इस बात की परवाह भी नहीं करते कि रसिक सहृदय उनके काव्य को भाव—पक्ष से शून्य बतायें। उन्होंने तो इन लोगों को अप्रौढ़बुद्धि वाले बालक कहा है, जिनके हृदय में श्रीहर्ष की रमणीय कविता—कामिनी का लावण्य कोई आनन्द नहीं पैदा कर सकता पर उन्हें पूर्ण विश्वास है कि उनकी कविता कामिनी प्रौढ़ विद्वानों को ज़रूर आनंदित करता है।

'नैषध' की रमणीयता का आस्वादन उसी सहृदय व्यक्ति को हो सकता है जो श्रद्धा के साथ गुरूचरणों में बैठकर इस ग्रन्थ की जटिलताओं को समझे, जिसे कवि ने स्थान—स्थान पर काव्य में बड़े प्रयत्न के साथ प्रयोग किया है। [१] 'नैषध' में श्रीहर्ष के काव्य सम्बन्धी सिद्धान्त को लेकर चलने पर पता चलता है, कि श्रीहर्ष अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल हुए हैं, चाहे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए

---

१. ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्वक्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया

प्राज्ञंमन्यमना हठेन पढिती मास्मिन् खलः खेलतु। नैषध २२/१५२

उन्होंने कई स्थानों पर काव्य के भाव पक्ष को कमज़ोर बना दिया हो। यही कारण है कि श्रीहर्ष की कविता के विषय में आलोचकों में सदा दो दल बने हुए है, कुछ विद्वान् उन्हें भारवि तथा माघ से भी बड़ा मानते है, [१] और कुछ उन्हें प्रथम कोटि के कवियों में भी स्थान देना पसन्द नहीं करते है, [२] पर श्रीहर्ष के विरोधी भी उनके पाण्डित्य प्रदर्शन, उनकी सूक्तियों और उनकी कविता के ललित पदविन्यास की दाद दिये बिना नहीं रहते।

श्रीहर्ष की काव्य शैली प्राय: वैदर्भी है। [३] किन्तु यह वैदर्भी कालिदास की वैदर्भी के समान प्रसादगुण सम्पन्न नहीं है। यह पाण्डित्य से परिपूर्ण है। 'नैषध' महाकाव्य में कुछ ऐसे स्थल भी हैं, जो कि प्रसाद गुण में कालिदास के तत्सम्बन्धी वर्णनों की टक्कर में आ सकते हैं, जैसे कि 'नैषध' महाकाव्य का "हंस विलाप"। [४]

वैदर्भी रीति के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा भी है — "धन्यासि वैदर्भी गुणैरुदारै:।"

---

१. तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदय:।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघ: क्व च भारवि:।।

२. Keith : History of Sanskrit Literature, P. 140, and Dasgupta : History of Sanskrit Literature P. 330.

३. धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इत: स्तुति: का खलु चन्द्रिका या यदाब्धिमप्युत्तरलीकरोति।। नै० ३/११६

४. पतत्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रिय: प्रयान्त्या: प्रविहाय पल्वलम्।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली।। नै० १/१२७

नैषध की शैली का पाण्डित्य तथा पदलालित्य एक साथ कवि की दार्शनिकता और विलासिता को व्यक्त करते हैं। श्रीहर्ष की कविता और काव्यशैली दोनों दमयन्ती की ही भाँति 'शृंगारसर्गरसिकद्वयणु कोदरी' है।

श्रीहर्ष की शैली का एक महत्वपूर्ण तत्त्व उनके द्वारा श्लेष, अनुप्रास, वीप्सा और यमक आदि शब्दालङ्कारों का प्रयोग है। प्राय: प्रत्येक सर्ग में इस प्रकार के अलङ्कार उपलब्ध होते हैं।

इसी कारण नैषध महाकाव्य को 'नैषधे पदलालित्यं' कहकर पदों को माधुर्य से परिपूर्ण कहा गया है।[१]

''नैषध'' काव्य के कलापक्ष की प्रधानता है, जहाँ भावपक्ष सर्वथा गौण हो गया है। अलंकार प्रदर्शन तथा पाण्डित्य प्रदर्शन की तरह कवि ने छन्द: प्रयोग की कुशलता की व्यक्त की है। पूरा एक सर्ग 'हरिणी' छन्द में है। 'नैषधचरित' में १९ छन्दों का प्रयोग किया गया है। श्रीहर्ष की भाषा अत्यन्त दुरूह है। किन्तु इसकी दुरूहता को इसलिए ठीक भी कहा जा सकता है, कि ''खण्डनखण्डखाद्य'' जैसे ग्रंथ की रचना करने वाले से सीधी—सीधी और सरल भाषा की आशा नहीं की जा सकती हैं। गंभीर विषयों के लिए गंभीर भाषा का प्रयोग किया जाना स्वाभाविक है। अत: इस 'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य की भाषा में दुरूहता का आना स्वाभाविक ही है। महाकवि श्रीहर्ष की भाषा में दुरूहता का एक कारण यह

---

१. देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।
एतस्य निष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम्।। नै० ११/६६

भी है कि उनसे पूर्व महाःकवि माघ एवं भारवि ने अपने पाण्डित्य प्रदर्शन हेतु दुरूह भाषा का प्रयोग किया था जिसका प्रभाव उनपर भी था और वे उन दोनों की अपेक्षा अपने पाण्डित्य प्रदर्शन को और उत्तम रूप में विद्वानों के समक्ष रखना चाहते थे। इसी कारण उनकी 'नैषधीचरितम्' में प्रयुक्त भाषा में भी कहीं—कहीं अधिक दुरूहता आ गई है।

उनके काव्यरूपी गहन वन में बिछे हुए शब्दरूपी कांटों और अलङ्कार रूपी झाड़—झंकाड़ों में से होकर गमन करना किसी भी साधारण रसिक पथिक के लिए बिना किसी योग्य निर्देशक के संभव नहीं है। पूर्व परिपक्व रसिक विद्वान ही उनके काव्य की आत्मा तक पहुँचने का साहस कर सकते हैं। उनके भाषा सम्बन्धी दुरूहता की प्रमुख कारणों में से एक कारण यह भी है कि उन्होंने 'नैषधीयचरित' में अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है जै — फाल [१], अगदङ्कार [२] आदि।

इसी भाँति अपने व्याकरण सम्बन्धी पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिए भी उन्होंने अनेक नवीन शब्दों को गढ़कर अपने शब्दों में प्रयुक्त किया है। यथा — "शूननायक", "प्रतीतचर" आदि।

उनकी भाषा की दुरूहता का एक कारण उनकी शब्द चमत्कार तथा शब्द क्रीड़ा की प्रवृत्ति भी है, जिसके कारण उनको यमक जैसे अलङ्कारों का अधिक

---

१. विभाज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराशिशरस्थितम्। नै० १/१६

२. स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोस्सिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ।
निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रमिकी तस्य रुजेव लज्जा। नै० ३/१११

मात्रा में आश्रय लेना पड़ा है। 'नैषधीयचरितम्' के ''पंचनली'' के वर्णन प्रसंग में उनका श्लेष अलङ्कार के प्रति प्रेम चरमोत्कर्ष तक पहुँच गया है। इसमें एक—एक श्लोक के पाँच—पाँच अर्थ हैं। [१]

लेकिन कहीं—कहीं उनकी भाषा अत्यन्त सरल एवं मुहावरेदार है।[२] अनेक स्थलों पर उन्होंने ऐसी मुहावरेदार भाषा का भी प्रयोग किया है कि जिससे उनकी भाषा का महत्व और भी ज्यादा बढ़ गया है। ये मुहावरे आजकल भी प्रान्तीय भाषाओं में प्रचलित हैं। जैसे कि ''कथमास्य दर्शयिताते।'' (मैं अपना मुंह कैसे दिखाऊँगा) इत्यादि।[३]

इन मुहावरों के अतिरिक्त उन्होंने ''विरुद्ध'' [४], ''धीरणी'' [५] इत्यादि लोक भाषाओं में प्रचलित शब्दों का प्रयोग अपनी भाषा में किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीहर्ष की भाषा में प्रौढ़ता के साथ—साथ दृढ़ता भी है। उनकी भाषा में कठिन से कठिन भाव को अभिव्यक्त करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है! भावों के समान ही उन्होंने भाषा का प्रयोग किया है।

---

१. देव: पतिर्विदुषी नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नल: खलु तवास्ति महानलाभो यद्येनमुज्झसि वर: कतर: पुनस्ते।। नै० १३/३४

२. धन्यासि वैदर्भिगुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इत: स्तुति: का खलु चन्द्रिका या यदब्धिमप्युत्तर लीकरोति।। नै० ३/११६

३. नैषधे वत वृते दमयन्त्या व्रीडितो हि न बहिर्भवितास्मि।
स्वां गृहेऽपि वनितां कथमास्यं ह्रीनिमीलि खलु दर्शयितामहे।। नै० ५/७१

४. आश्लेषलग्नगिरिजाकुचकुङ्कमेन य: पट्टसूत्रपरिरम्भणशोणशोभ:।
यज्ञोपवीतपदवी भजते स शम्भो: सेवासु वासुकिरयं प्रसितं सितश्री:।। नै० ११/१७

५. पुर: पुरात्तस्थुषि रामणीयके तया बबाधेऽवधिबुद्धिधोरिणी:।। नै० १५/४९

रस के आधार पर भाषा में भी प्रसाद, माधुर्य और ओजोगुण की व्यापकता का अनुभव पाठक को होता है।

महाकवि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य 'नैषध' में शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार दोनों ही प्रकार के विविध अलङ्कारों का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में किया है। काव्य की रसधारा मे अवरोध उत्पन्न करने वाले ''मुरज, सर्वतोभद्र और चित्रबन्ध'' इत्यादि अलङ्ककारों का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है। पदलालित्य एवं माधुर्य की दृष्टि से उन्होंने अनुप्रास और यमक नामक शब्दालङ्कार का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में किया है। इसके अतिरिक्त श्लेष अलङ्कार का प्रयोग तो स्थान—स्थान पर मिलते हैं। 'नैषध' में शब्दालङ्कार के समान अर्थालङ्कार का प्रयोग भी उन्होंने प्रचुर मात्रा में किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा [१] और अतिशयोक्ति, संदेह और अपह्नुति जैसे अर्थालङ्कारों के प्रयोगों में भी श्रीहर्ष ने अपनी अनुपम कल्पना को व्यक्त किया है।

उत्प्रेक्षाओं से तो उनका मताकाव्य भरा पड़ा है। हेतुत्प्रेक्षा सम्बन्धी उनकी एक अनुपम कल्पना द्रष्टव्य हैं यह उत्प्रेक्षा चन्द्रमा के कलङ्क से सम्बन्धित है :—

इस प्रकार से हम देखते हैं कि श्रीहर्ष की भाषा में प्रौढ़ता के साथ—साथ परिष्कार भी है। उनकी भाषा में कठिन से कठिन भाव को अभिव्यक्त करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है। भावों के समान ही उन्होंने भाषा का प्रयोग किया है।

---

१. यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ।। नैषध १/८

रस के आधार पर भाषा में भी प्रसाद, माधुर्य तथा ओज गुणों की व्यापकता का अनुभव पाठक को होता है।

महाकवि श्रीहर्ष ने संवादों की योजना ऐसी उत्तम की है, कि जिसके कारण उनमें नाटकीयता का भी भान पाठक को हो जाता है।

जैसे कि दमयन्ती की सखियों का हटाया जाना पूरी तरह नाटकीय प्रतीत होता है।[१] शीघ्रता और घबराहट इत्यादि को दिखलाने के लिए वे कई क्रियाओं का एक साथ प्रयोग करते हैं।[२] यत्र—तत्र लोक—व्यवहार सम्बन्धी शब्दों तथा शब्द—समूहों का प्रयोग भी उनकी नाट्यकला सम्बन्धी प्रतिभा का द्योतक है।

महाकवि श्रीहर्ष द्वारा रचित 'नैषध' महाकाव्य में १९ छन्दों का प्रयोग हुआ है। जिनमें इन्द्रवज्रा कोटि के 'उपजाति छन्द' का प्रयोग सात सर्गों में हुआ है। अत: यह उनका सर्वाधिक प्रिय छन्द रहा हैं वैसे उन्होंने सभी प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। लेकिन बहुलता की दृष्टि से उपजाति छन्द का प्रयोग सर्वाधिक है।

'नैषध' के प्रथम सर्ग में ही प्रकृति वर्णन उपलब्ध होता है। प्रकृति वर्णन में श्रीहर्ष का प्रेम खास तौर पर अप्रस्तुत विधान की ओर ही है। श्रीहर्ष के अप्रस्तुत विधान या तो शास्त्र से लिए गये होते हैं, या शृंगारी जीवन के विलासमय चित्रों से, या फिर लोकव्यवहार से। श्रीहर्ष की प्रकृति संयोग या

---

१. रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार। नै० ३/१२

२. विचिन्वती: पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकञ्जलच्छलात्। नै० १/८६

विप्रयोग की उद्दीपनगत प्रकृति है। प्रथम सर्ग का उपवन वर्णन नल को संताप देता है।[१] और चतुर्थ सर्ग का प्रकृतिवर्ण दमयन्ती को।[२]

महाकवि ने प्रकृति का मानवीकरण करके उसे मानवोचित अनुभूतियों द्वारा स्पन्दित भी किया है।[३] प्रकृति की उत्तमता का सबसे अच्छा उदाहरण प्रथम सर्ग में देखने को मिलता है, जिसमें कोयल अपनी आँखों को लाल करके पथिको को शाप दे रही है कि तुम और अधिक दुर्बलता को प्राप्त करते जाओ, बारंबार मुर्छित होओ, ज्वर से पीड़ित होओ।[४] इस पद्य में प्रकृति इतनी सजीव प्रतीत होती है, जैसे वह किसी मानव से बातें कर रही हो। इसमें पशु—पक्षियों के मानव सदृश कौडम्बिक सम्बन्ध का दर्शन हो जाता है।

ऐसा समझा जाता है कि प्रकृति—चित्रण में श्रीहर्ष का मन रमता ही नहीं है। इसी कारण उनके इस महाकाव्य में प्रकृति के आवलम्बन रूप का वर्णन प्रायः अनुपलब्ध ही है।

अतः हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रस्तुत काव्य में उद्दीपन दृष्टि से

---

१. अर्थ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनस्समं वयस्यैस्स्वरहस्यवेदिभिः।
पुरोपकण्ठोपवन किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः।। नै० १/५६

२. अमृतदीधितिरेष विदर्भजे! भजसि साममुष्य किमंशुभिः?।
यदि भवन्ति मृताः सखि! चन्द्रिका शशभृतः क्व तदा परितप्यते।। नैषध ४/१०४

३. फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः।। नै० १/७७

४. दिने—दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिक पुनः पुनर्मुर्च्छं च, मृत्युमृच्छ च।
इतीव पान्थाञ्शपतः पिकान्द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेलक्षणान्।। १/९०

प्रकृति का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। तथा इस चित्रण में कल्पना वैचित्र्य का भी चित्रण हुआ है।

महाकवि श्रीहर्ष में भाव को अभिव्यक्त करने की अपूर्व क्षमता थी, उनकी कल्पनाओं ने भावों को अधिक मनोहर और सुकुमार बनाया था। यद्यपि उनके भाव अत्यन्त गंभीरता से परिपूर्ण हैं, किन्तु अभिव्यक्ति के साथ उनका सौन्दर्य पूर्णरूपेण निखर आया है। [१]

एक अत्यन्त भावपूर्ण उच्चकोटि की कल्पना देखिये जो कि चन्द्रमा के अन्दर विद्यमान कलङ्क के सम्बन्ध में है। [२]

इस प्रकार के भावाभिव्यंजन सम्बन्धी अनेक उदाहरण इनके ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं जिनका चारुत्व यथास्थान देखा जा सकता है। श्रीहर्ष के महाकाव्य में प्राय: हमें प्रकृति के आलम्बन रूप का वर्णन नहीं मिलता है। अत: प्रस्तुत काव्य में उद्दीपन दृष्टि से प्रकृति का वर्णन प्रस्तुत किया गया है तथा इस वर्णन में कल्पना वैचित्र्य का भी दर्शन होता है। महाकवि श्रीहर्ष रसाभिव्यक्ति में भी अत्यन्त निपुण हैं। उन्होंने अपने महाकाव्य में प्राय: सभी रसों का प्रतिपादपन किया है, किन्तु उनका अंगीरस श्रृंगार ही है। वीर, करूण, तथा हास्य आदि रसों का प्रयोग भी महाकवि श्रीहर्ष द्वारा अंगभूत रसों के रूप में हुआ है। उन्होंने श्रृंगार के संयोग तथा विप्रयोग का चित्रण विस्तार के साथ किया है। श्रीहर्ष में कालिदास

---

१. अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा। नै० १/१२०

२. यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम। नै० १/८

के समान रस–परिपाक दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि उनका शृंगार कवि–हृदय से निस्सृत स्वाभाविक स्त्रोतस्विनी के रूप में नहीं है। उस पर वात्स्यायन के कामसूत्र की गहरी छाप है। अठारहवें तथा बीसवें सर्ग में चित्रित काम–क्रीड़ा के चित्र इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।[१] इसके अतिरिक्त दमयन्ती के नख–शिख वर्णन इत्यादि वर्णनों में कवि ने अपने शृंगार रस सम्बन्धी चातुर्य को प्रंकट किया है,[२] किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उनका शृंगार प्राय: अमर्यादित होकर अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गया है, किन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत कतिपय संभोग के चित्र अत्यधिक प्रभावोत्पादक तथा कलात्मक दृष्टि से परिपूर्ण भी हैं।[३] यद्यपि दमयन्ती के नख–शिख वर्णन की तरह प्राय: प्रत्येक महाकवियों ने अपने काव्यों में शृंगार रस का वर्णन किया है, किन्तु नैषध जैसा विलासमय नख–शिख वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता है। इसमें श्रीहर्ष ने दमयन्ती के अंगों के उपमानों के रूप में प्रयुक्त परम्परागत उपमानों का तो प्रयोग किया ही है, साथ ही अन्य शास्त्रों, पुराणों और लोक–व्यवहारों से उपमानों का चयन किया है।

---

१. चुचुम्बास्यमसौ तस्या रसमग्नः श्रितस्मिनम्।
नभोमणिरिवाम्भोजं मधुमध्यानुविम्बित:।। नै० २०/२५

२. अस्या: कचानं शिखिनश्च किन्नु विधि कलापौ विमतेरगाताम्।
तेनायमेभि: किमपूजी पुष्पैरभर्त्सि दत्वा स किमर्धचन्द्रम्।। नै० ७/२२

३. वल्लभस्य भुजयो: स्मरोत्सवे दित्सतो: प्रसभमङ्कपालिकाम्।
एककश्चिरमरोधि बालया तल्पयन्त्रणनिरन्तरालया।। नै० १८/४३

कृतियों का प्रतिपाद्य :-

श्री राजशेखर सूरि के अनुसार महाकवि श्रीहर्ष ने शताधिक ग्रथों की रचना की है, किन्तु उनके न तो नाम ही उपलब्ध हैं और न कोई प्रमाण ही हैं। हाँ, इतना तो अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि उन्होंने सब मिलाकर १० ग्रन्थों की रचना तो की ही है। जिनमें 'नैषधीयचरित' के अतिरिक्त लिखे गये अन्य आठ ग्रन्थों का प्रमाण तो 'नैषधचरित' के सर्गान्त श्लोकों में मिल जाता है। ये हैं — स्थैर्यविचारप्रकरण [१], विजयप्रशस्ति [२], खण्डनखण्डखाद्य [३], गौडोर्वीकुलप्रशस्ति[४], अर्णवर्णन [५], छिन्दप्रशस्ति[६], शिवशक्तिसिद्धि [७], नवसाहसाङ्कचरितचम्पू [८]।

इनके अतिरिक्त उनका एक दसवाँ ग्रन्थ ईश्वराभि—सन्धि [९] भी है, जिसका उल्लेख महाकवि श्रीहर्ष ने अपने ग्रन्थ ''खण्डनखण्डखाद्य'' में पाँच बार किया है। इस भाँति श्रीहर्ष द्वारा रचित १० ग्रन्थों का उल्लेख तो स्पष्ट रूप से

---

१. ''स्थैर्यविचारण प्रकरण भ्रातरि'' — नै० ४/१२३
२. तस्यश्री विजयप्रशस्तिरचनातातस्य नव्ये महाकाव्ये।। नै० ५/१३८
३ खण्डनखण्डतयोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे — इत्यादि, नै० ६/११३
४. गौडोर्वीकुलप्रशस्ति भणिति भ्रातरि — इत्यादि, नै० ७/११०
५. सदृब्धार्णववर्णनस्य तस्य महाकाव्ये — नै० ९/१६०
६. स्वसु:सुसहशिच्छिन्दप्रशस्तिर्महाकाव्ये — नै० १७/१२२
७. अस्मिन् शिवशक्तिसिद्धि भणिनी सौभ्रात्रभव्ये महाकाव्ये। नै० १८/१५४
८. नवसाहसाङ्कचरिते चम्पूकृत: (तस्यकवे:) महाकाव्ये। नै० २२/१४९
९. शेषं चेश्वराभिसन्धौ स्वप्रकाशवादे निर्वक्ष्याम:, श्रुतिप्रामाण्यं सिद्धार्थप्रामाण्यं चेश्वराभिसन्धौ साधयिष्यते।।
खण्डनखण्डखाद्य।।

उपलब्ध होता है। अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहा जा सकना संभव नहीं है। इन दसों ग्रन्थों में से इस समय केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं (१) नैषधचरित, (२) खण्डनखण्डखाद्य। शेष आठ ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं। उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त नहीं हो सकी हैं। अत: उन ग्रन्थों के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य ''नैषधचरित'' में जिन आठ ग्रन्थों का वर्णन किया है, वे अवश्य ही ''नैषध'' महाकाव्य से पूर्व लिखे जा चुके होंगे। यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि ''नैषध'' महाकाव्य में ''खण्डनखण्डखाद्य'' [१] का 'खण्डनखण्डखाद्य' में ''नैषधचरित''[२] का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि दोनों ग्रन्थों की रचना एक साथ की गयी होगी।

इसके अतिरिक्त 'खण्डनखण्डखाद्य' में 'नैषधचरित' के २१वें सर्ग का उल्लेख प्राप्त होने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने 'खण्डनखण्डखाद्य' को पूर्ण करने से पहले ही 'नैषधमहाकाव्य' को पूर्ण कर लिया हो।

हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी अंतिम रचना 'ईश्वराभिसन्धि' ही रही होगी क्योंकि नैषधचरित में कही भी इस ग्रन्थ का नाम

---

१. षष्ठ: खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महाकाव्ये चारूणि

नैषधीयचरिते सर्गोऽगमद् भास्वर: ।। नै० ६/११३

२. तं विदर्भरमणीमणिसौधादुज्जिहानमनुदर्शितसेवै:।

अपर्णान्निजकरस्य नरेन्द्रैरात्मन: करदता पुनरूचे।। २१/१

नहीं आया है।

अत: कालक्रम की दृष्टि से 'नैषधीयचरितम्' सर्वप्रथम, कुछ भाग उसके साथ ही और कुछ भाग 'नैषध' के पश्चात् लिखे जाने के कारण ''खण्डनखण्डखाद्य'' उसके पश्चात् और अन्त में 'ईश्वराभिसन्धि' की रचना की गई होगी।

महाकवि श्रीहर्ष द्वारा लिखित एवं प्राप्त ग्रन्थों में ''नैषधमहाकाव्य'' को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। ''नैषधचरित'' २२ सर्गों में लिखा गया एक महाकाव्य है। यद्यपि इसकी मूलकथा महाभारत से ली गई है, किन्तु इस महाकाव्य में महाभारत में वर्णित नल दमयन्ती की कथा का कुछ अंश ही आ सका है, क्योंकि काव्य की समाप्ति नल—दमयन्ती के विवाह और उनकी प्रणय सम्बन्धी क्रीड़ा को दिखलाने के पश्चात् ही हो जाती है। इसके पश्चात् का उनके जीवन का सम्पूर्ण अंश अवर्णित ही रह गया है। कुछ विद्वानों के विचार के आधार पर यह काव्य २२ सर्गों में ही समाप्त हो गया है, किन्तु कुछ विद्वानों का यह कहना है कि यह काव्य अधूरा ही है। उनके विचार से या तो काव्य का शेष भाग लुप्त हो गया है अथवा कवि इस काव्य को पूरा ही नहीं कर पाया। अत: यह हो सकता है कि प्रारम्भ में कवि की योजना सम्पूर्ण कथानक को चित्रित करने की रही हो और बाद में आकर ग्रन्थ के अधिक विस्तार को देखते हुये उन्होंने यही उचित समझा हो कि उसे यहीं पर समाप्त कर दिया जाय। इस प्रकार २२ सर्गों में ''नैषधचरितम्'' के कथानक को समाप्त कर दिया गया है।

नैषधचरित'' का कथानक इस प्रकार से है — प्रथम सर्ग के कथानक में

निषधदेश के राजा नल का चरित, विद्याभ्यास, धर्माचरण, प्रताप एवं उनकी दिनचर्या का विशद वर्णन विद्यमान हैं नल का सौन्दर्य त्रैलोक्य में अनुपम था, जिसकी ख्याति सर्वत्र थी। विदर्भ देश के राजा भीम की पुत्री भी अनुपम सौन्दर्यशालिनी थी, उसने भी राजा नल के रूप, सम्पत्ति एव कीर्ति के बारे में बहुत कुछ सुना था, अत: वह राजा नल पर अनुरक्त हो गयी। सखियों द्वारा राजा नल का वर्णन सुनकर वह रोमाञ्चित हो जाया करती थी। उसी प्रकार राजा नल ने भी दमयन्ती के रूप एवं गुणों की प्रशंसा सुनी थी। कामदेव द्वारा राजा नल के धैर्य को नष्ट कर देने पर भी उन्होंने अपनी शालीनता को न छोड़ते हुये राजा भीम से दमयन्ती को नहीं माँगा। कामार्त्त होने पर शान्ति प्राप्ति की इच्छा से वे उपवन को गये। उपवन में सरोवर के किनारे एक स्वर्णिम हंस को राजा नल ने पकड़ लिया। हंस के महती करुणा विलाप को देखकर राजा नल को दया आ गयी, और वे हंस को छोड़ दिये।

द्वितीय सर्ग में हंस राजा के पास कृतज्ञताज्ञापनार्थ जाता है, तथा दमयन्ती के सौन्दर्यादि गुणों का वर्णन उसके समक्ष करता है। नल द्वारा आग्रह किये जाने पर हंस दमयन्ती के समीप कुण्डिनपुर जाता है। वहाँ दमयन्ती अपनी सखियों के साथ उपवन में विहारमग्न है।

तृतीय सर्ग में हंस दमयन्ती के पास पहुँचकर वहीं पर समीप में ही रुक जाता है, दमयन्ती उसे पकड़ने का प्रयास करती है। हंस उसे सघन वन में ले जाता है, उसे एकान्त में देखकर हंस अपना परिचय देकर राजा नल के गुणों तथा

सौन्दर्य का वर्णन करता है। उसके पश्चात् दमयन्ती भी राजा नल के प्रति अपने प्रेम को प्रकट कर देती है। हंस वापस लौटकर राजा नल के समीप पहुॅचकर अपनी सफलता की सूचना उन्हें देता है।

चतुर्थ सर्ग में दमयन्ती राजा नल से मिलने के लिये अत्यन्त आतुर हो जाती है, उसके पिता उसकी इस प्रकार की अवस्था को देखकर स्वयंवर का निश्चय करते हैं।

पंचम सर्ग में यह वर्णित है कि नारद जी इन्द्र देवता के समक्ष दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं, जिसे सुनकर इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण देवताओं के साथ पृथ्वी की ओर चल देते हैं, वहॉ वे दमयन्ती के समीप अपनी दूतियों को भेजते हैं। मार्ग में कुण्डिनपुर को जाते हुये वे राजा नल को देखते हैं, वहॉ उनके सौन्दर्य को देखकर देवताओं में ईर्ष्या भाव उत्पन्न हो जाता है। अपना परिचय देकर देवगण उनसे कुछ याचना करना चाहते हैं, राजा नल उनकी इच्छा पूर्ण करने का वचन देते हैं, तब देवगण राजा नल से कहते हैं कि आप हम लोगों की ओर से दमयन्ती के समीप जाइये और दमयन्ती को उनमें से किसी एक को चुन लेने के लिये राजी कीजिये। राजा नल स्पष्ट कहते हैं कि वे स्वयं दमयन्ती से प्रेम करते हैं तथा वे उसे प्राप्त करने की इच्छा से वहाँ जा रहे हैं, किन्तु जब इन्द्र उनको अपने दिये हुये वचन को पूर्ण करने हेतु बाध्य करते हैं, तो वे उनकी बात स्वीकार कर लेते हैं।

षष्ट सर्ग में अदृश्य राजा नल दमयन्ती के भवन में पहुँच जाते हैं। वहॉ

वे देखते हैं कि देवों की दूतियॉ देवों में से ही किसी को चुनने के लिये दमयन्ती से आग्रह कर रही हैं, किन्तु दमयन्ती ऐसा करने से उन्हें रोकती है। यह सब सुनकर राजा नल प्रसन्न होते हैं।

सप्तम सर्ग में यह वर्णित है कि राजा नल दमयन्ती के अनुपम सौन्दर्य को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं, इस दृष्टि से कवि द्वारा दमयन्ती के नख—शिख का चित्रण इसमें प्रस्तुत किया गया है।

अष्टम सर्ग में राजा नल अपने को प्रकट कर देते हैं। उनके असीम सौन्दर्य को देखकर दमयन्ती तथा उनकी सखियाँ आश्चर्यचकित होकर उनका परिचय पूछती हैं। राजा नल अपने को देवदूत बताते हैं, तथा देवताओं में से किसी एक को चुन लेने के लिये दमयन्ती से आग्रह करते हैं।

नवम सर्ग में राजा नल और दमयन्ती का वार्तालाप होता है। दमयन्ती देवों में से किसी एक को भी वरण न करने तथा राजा नल सम्बन्धी अपना निश्चय उनको अवगत करा देती है, तथा दमयन्ती द्वारा बार—बार प्रार्थना किये जाने पर राजा नल दूसरे दिन स्वयंवर में आने के लिये अपनी स्वीकृति दे देते हैं।

दशम सर्ग में स्वयंवर आरम्भ हो जाता है, इन्द्रादि देव भी राजा नल का वेष धारण कर वहाँ उपस्थित हो जाते हैं।

एकादश एवं द्वादश सर्ग में सरस्वती द्वारा राजाओं आदि का परिचय दमयन्ती को दिया जा रहा है। किन्तु नलासक्त चित्त वाली दमयन्ती सभी की

उपेक्षा कर आगे बढ़ती है, आगे बढ़ने पर पांच नलों को देखकर वह आश्चर्य मे पड़ जाती है।

त्रयोदश सर्ग में राजा नल के ही वेष मे विद्यमान (१ नल + ४ देवताओं) पॉचों नलों का सरस्वती द्वारा श्लेषयुक्त वर्णन किया जाता है। दमयन्ती देवताओ तथा राजा नल में अन्तर न कर सकने के कारण अत्यन्त दु:खी होती है।

चर्तुदश सर्ग में दमयन्ती मन ही मन देवताओं की पूजा करती है। देवगण प्रसन्न होकर उसे सरस्वती के श्लेष वचनों को समझने की शक्ति प्रदान करते हैं। जिसके फलस्वरूप दमयन्ती राजा नल को पहचानकर पुष्पों की माला से उसे अलंकृत कर देती है, सरस्वती तथा देवगण दोनों दमयन्ती को आशीर्वाद देते हैं।

पंचदश सर्ग में राजा भीम विवाह सम्बन्धी तैयारी में संलग्न हो जाते हैं, और विवाहोत्सुक नल को आमन्त्रित करते हैं।

षोडश सर्ग में राजा भीम द्वारा बारात का स्वागत—सत्कार किया जाता है। विवाह—संस्कार सम्पन्न हो जाने पर राजा वापस राजधानी आते हैं, जहाँ उनका स्वागत जनता द्वारा किया जाता है।

सप्तदश सर्ग में स्वर्ग वापस जाते हुये देवों की भेंट ''कलि'' से हो जाती है। कलि कहता है कि वह दमयन्ती के स्वयंवर में जा रहा है। देवगण उसे स्वयंवर सम्पन्न हो जाने की सूचना देते हैं, जिस पर वह क्रुद्ध होकर राजा नल को पदच्युत होने और दमयन्ती से वियुक्त होने सम्बन्धी शाप देता है।

अष्टादश सर्ग में राजा नल और दमयन्ती के प्रथम मिलन तथा काम—क्रीड़ा आदि का वर्णन किया गया है।

एकोनविंशति सर्ग से द्वाविंशति सर्ग तक — नल तथा दमयन्ती की दिनचर्या देवस्तुति, चन्द्रोदय, सूर्योदय आदि का चित्रण प्रस्तुत किया गया है, साथ ही नल दमयन्ती के विलास का भी सजीव चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

अंत में कवि—वृत्त के सूक्ष्मवर्णन के साथ कथानक की समाप्ति हो जाती है। 'नैषधीयचरित' में २२ सर्गों में नल—दमयन्ती के प्रेम और विवाह की कथा बड़ी सरस शैली में वर्णित है। उनकी प्रथम मिलन—रात्रि का रुचिकर वर्णन कर ग्रन्थ समाप्त होता है। कालिदास की ही भाँति श्रीहर्ष ने भी अपनी कविता का कथानक पौराणिक स्रोत से ही लिया है, और उस पर अपनी प्रखर प्रतिभा की छाप बैठा दी है। 'नैषध' में वास्तविक काव्य सौन्दर्य तथा शोभातिशायक अलंकारों का अनुपम वर्णन किया गया है।

शब्दों के सुन्दर विन्यास में, भावों के समुचित निर्वाह में, कल्पना की ऊँची उड़ान में तथा प्रकृति के सजीव चित्रण में यह महाकाव्य काव्य जगत में अपना विशेष स्थान रखता है। उनकी स्वत: मधुर कविता किस सहृदय के मन को हर नहीं लेती? 'नैषध' में एक ही विषय पर कई श्लोकों में वर्णन मिलेगा, पर सर्वत्र नवीन शब्दावली एवं अभिनव पदशय्या उपलब्ध होती है। शब्द और अर्थ का मनोहर सामंजस्य 'नैषध' में हैं।

श्रीहर्ष ने अपने काव्य को 'शृंगारामृतशीतगु:' शृंगाररूपी अमृत का चन्द्रमा

कहा है। रमणीरूप के वर्णन में, शृंगार रस की मधुर व्यंजना में कवि ने विलक्षण सहृदयता का परिचय दिया है। दमयन्ती के अलौकिक सौन्दर्य का अनोखा चित्रण किया गया है।[1] तथा दमयन्ती द्वारा नल को वरण करने की इच्छा को कितने चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त किया गया है।[2]

'नैषध' में कहीं—कहीं विस्तार की अधिकता पाई जाती है, तभी तो जो कथा 'महाभारत' के 'नलोपाख्यान' के कुछ अध्यायों में ही समाप्त हो जाती है, वहीं 'नैषध' में २२ लम्बे—लम्बे सर्गों में अति—विस्तीर्ण कर दी गई है, कुछ समालोचकों का कहना है कि कालिदास के पीछे के बने काव्यों में कृत्रिमता का समावेश हुआ है, उनमें मुख्य विषयों की ओर कम, परन्तु आनुषंगिक विषयों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है, जैसे कि द्वितीय सर्ग में हंस के मुख से श्रीहर्ष दमयन्ती का वर्णन कर चुके हैं[3], फिर भी पूरा सॉतवा सर्ग दमयन्ती के नख—शिख वर्णन से ही भरा है,[4] और फिर दसवें सर्ग में इस वर्णन का

---

१ हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।

कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनी खनीलिम्।। नैषध० २/२५

२. मनस्तु य नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथ सः।

का नाम बाला द्विणराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा।। नै० ३/५१

३. नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे।

अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम्।। नै० २/२३

४. दृशौ किमस्याश्चपलस्वभावे न दूरमाक्रम्य मिथो मिलेताम्।

न चेत्कृत· स्यादनयोः प्रयाणे विघ्नः श्रवः कूपनिपातभीत्या।। नै० ७/३४

पुनरावृत्ति हुआ है। 'महाभारत' में नल—दमयन्ती के प्रेम का पवित्र एव सात्विक रूप दर्शित है, पर श्री हर्ष ने उसे विलास एवं वासना रूप में चित्रित किया है, साथ ही, 'महाभारत' में नल के निर्वासित जीवन की जिन कारुणिक एवं मार्मिक दशाओं का चित्रण हुआ है, 'नैषध' में उसका उल्लेख तक नहीं किया गया है।

उपर्युक्त त्रुटियों के होते हुये भी 'नैषध' का 'वृहत्रयी' में आदर से नाम लिया जाता है। यद्यपि इसकी मूलकथा 'महाभारत' से ली गई है, किन्तु इस महाकाव्य में नल—दमयन्ती की कथा का थोड़ा ही अंश आ सका है, क्योंकि काव्य की समाप्ति नल दमयन्ती के विवाह और उनकी प्रणय सम्बन्धी क्रीड़ा को दिखलाने के पश्चात् ही हो जाती है, इसके पश्चात् का उनके जीवन का सम्पूर्ण अंश अवर्णित ही रह गया है। इस विषय पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कवि की योजना सम्पूर्ण कथानक को चित्रित करने की रही हो, और बाद में आकर ग्रन्थ के अधिक विस्तार को देखते हुये उसे यहीं समाप्त कर दिया गया हो।

खण्डनखण्डखाद्य-

चार परिच्छेद में इस ग्रन्थ का वर्णन किया गया है। प्रथम परिच्छेद में ४१ पद, द्वितीय परिच्छेद में ५ पद, तृतीय में १ पद और चतुर्थ परिच्छेद में १९ पदों का वर्णन करके ग्रन्थ की समाप्ति की गई है। 'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रन्थ के रचयिता श्रीहर्ष हैं। इसमें श्रीहर्ष ने नैयायिक तर्कशैली के द्वारा न्याय के सिद्धान्तों का खण्डन कर अद्वैत वेदान्त की स्थापना की है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसादि के प्रतिपाद्य पदार्थों की तीखी आलोचना इस ग्रन्थ का प्रधान विषय है। ग्रन्थकार ने

चार परिच्छेदों में खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ का विषय — विभाजन किया है —

(१) प्रथम परिच्छेद में प्रमाणसामान्य और प्रमाण विशेष का खण्डन हैं। प्रमाण विशेष में अधिक से अधिक छ: प्रमाणों की आलोचना है। श्री कुमारिलभट्ट सम्मत छ: प्रमाणों को वेदान्त में भी व्यवहारोपयोगी बताया गया है। परिच्छेद के अन्त मे हेत्वाभासों की समीक्षा की गई है, न्यायसूत्र चर्चित हेत्वाभासों पर ही विचार किया गया है।

(२) द्वितीय परिच्छेद में न्यायसूत्रोक्त प्रतिज्ञाहान्यादि २२ निग्रहस्थानों का खण्डन करने के लिये ४—५ निग्रहस्थानो का निराकरण कर एक दिग्दर्शन प्रस्तुत किया गया है। उसका आशय केवल श्री उदयनाचार्य के न्याय—परिशिष्ट का खण्डन ही प्रतीत होता है।

(३) किं, यत्, तदादि सर्वनाम पदों के द्वारा जो नैयायिक गण लक्षणों का अभिधान किया करते हैं, उसे निराधार बनाने के लिये सर्वनाम पदार्थों के निर्वचन का खण्डन किया गया है।

(४) चतुर्थ परिच्छेद में नैयायिकों की अपनी कल्पित परिभाषाओं का समूल उन्मूलन करने के लिये उनके अर्थों की सक्षम समीक्षा की गई है। इस परिच्छेद के माध्यम से वैशेषिकों की द्रव्य, गुणादि परिभाषाओं को अनुचित ठहराया गया है। श्री उदयनाचार्य में न्याय से लेकर वैशेषिक दर्शन के विशाल क्षेत्र में जो अपना यश स्थापित कर रखा था, उसको मिटाना आवश्यक था, अत: ऐसे कुछ विषयों का मूल्यांकन किया गया है, जिन पर नैयायिकों और वैशेषिकों की संयोजना

निर्भर है। इसमें प्रधानतया न्याय और वैशेषिक का ही खण्डन किया गया है, लेकिन अन्य दर्शनों का भी कुछ—कुछ अंश आ ही गया है। निर्वचनीयता की जंजीरों में जकड़े हुये दर्शन को सर्वथा उन्मुक्त करना खण्डनकार का उद्देश्य था, उस उद्देश्य में वह पूर्णतया सफल हैं। श्रीहर्ष अद्वैत वेदान्त के अपूर्व पाण्डित थे, उन्हें सच्चे शब्दों में दार्शनिक कहना तो ठीक न होगा, अद्वैत वेदान्त ही नहीं न्याय, मीमांसा आदि आस्तिक दर्शन, चार्वाक और बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शन, व्याकरण आदि सभी शास्त्रों का प्रगाढ़ पाण्डित्य उनके काव्य में स्पष्टत: परिलक्षित होता है।

द्वितीय अध्याय

काव्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धांत

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय है 'नैषधीयचरितम् में ध्वनितत्त्व'। ऐसी स्थिति में ध्वनि के अर्थ का निर्धारण आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य प्रतीत होता है। अत: पहले उसी पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य शास्त्र के अन्तर्गत् ध्वनि तत्त्व का सम्बन्ध ध्वनि सम्प्रदाय के वरिष्ठ संस्थापक आनन्दवर्धन तथा उनकी कृति ध्वन्यालोक से है, जिसमें वे न केवल ध्वनि सिद्धांत की स्थापना करते हैं, अपितु स्पष्ट शब्दों में ध्वनि के काव्य के आत्मतत्त्व होने की घोषणा भी करते हैं।[१] स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में काव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व है 'ध्वनि' इसलिए उसको उन्होंने काव्य के जीवनधायक तत्त्व की संज्ञा प्रदान की। आनन्दवर्धन का समय ८५० ई० के आस–पास माना जाता है[२], पर संस्कृत काव्य शास्त्र का जन्म तो बहुत पहले हो चुका था। ऐसी स्थिति में यह भी विचारणीय हो जाता है कि आनन्दवर्धन से पूर्व अन्य काव्यशास्त्री काव्यगत किन उपादानों को काव्य की आत्मा मानते रहे थे।

भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास में 'ध्वन्यालोक' एक युगान्तरकारी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के द्वारा ध्वनिसिद्धांत की उद्भावना और प्रतिष्ठा करके आनन्दवर्धन ने

---

१. काव्यास्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य: समाम्नातपूर्वस्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।

केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं तेन ब्रूम: सहृदयमन: प्रीतये तत्स्वरुपम्।।

ध्वन्यालोक १/१

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पी०वी० काणे। पृ० २५३

साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में महानीयतम अजर और अमर स्थान प्राप्त किया। साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य आनन्दवर्धन को वही स्थान प्राप्त है जो व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र मे आचार्य पणिनि को एवं वेदान्त के क्षेत्र में शंकराचार्य को प्राप्त हुआ है। आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने से प्राचीन युग की साहित्यशास्त्रीय मान्यताओं और आलोचना के सिद्धांतों के मार्ग को मोडकर एक नया मार्ग प्रशस्त्र किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने यह ठीक ही कहा है कि ध्वनिकार ने आलङ्कारिको का मार्ग व्यवस्थित एवं प्रतिष्ठित कर दिया था।

ध्वनि—सिद्धांत के पूर्व का काव्यशास्त्रीय चिन्तन जैसे आनन्दवर्धन के अवतार की पूर्वपीठिका थी। पूर्ववर्त्ती आचार्य जिय व्यङ्ग्यार्थ को भंगिभणीति अथवा समासोक्ति, आक्षेप, अपह्नुति इत्यादि अलंकारों के रुप में ही देख रहे थे, उस व्यङ्ग्यार्थ के चारुत्व के वैशिष्ट्य को आनन्दवर्धन की सूक्ष्म दृष्टि ने ही परखा। आनन्दवर्धन का 'ध्वनि—सिद्धांत' पूर्ववर्त्ती सभी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मतों से सर्वथा भिन्न था। अभी तक आचार्यों ने केवल वाच्य—वाचक, शब्द एवं अर्थ को ही महत्वपूर्ण स्थान दिया था, एवं उन्हीं को अलंकृत करने वाले अलंकारों, या गुणों एवं उपनागरिका आदि वृत्तियों एवं वैदर्भी आदि रीतियों को ही काव्य की आत्मा माना था।[१]

---

१. तत्र केचिदाचक्षीरन् शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्।

तत्र रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतय:। ध्व० १/१ पृ० ५

आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित 'ध्वनिसिद्धांत व्यङ्ग्य—व्यञ्जक भाव पर ही पूर्ण रुप से आश्रित सिद्धांत था, जिसमें ध्वनि को काव्य के आत्मभूततत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।[१]

भारतीय साहित्यशास्त्र का प्रारम्भ अति प्रचीन युग में ही, ६०० ई० पूर्व से पहले ही हो चुका था। तथापि इसका व्यवस्थित रूप आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' से प्रारम्भ होता है। भरत के अनन्तर भामह, उद्भट, दण्डी, वामन आदि हुये, जिन्होंने साहित्यिक आलोचना का जो मार्ग प्रतिपादित किया था, आनन्दवर्धन ने उसको एक नई दिशा प्रदान की।

भामह आदि आचार्यों ने काव्य के शरीर को शब्दार्थ रुप में प्रतिपादित करके[२] इनको अलंकृत करने वाले 'शब्दालंङ्कारों और अर्थालंकारों को' [३] और रीति को [४] काव्य की आत्मा के रुप में प्रतिपादित किया था। इस प्रकार इन आचार्यों ने काव्य के स्थूल शरीर शब्द एवं अर्थ का प्रतिपादन किया, और उसी में काव्य का वास्तविक सौन्दर्य माना। परन्तु काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य को, काव्य के आत्मतत्त्व को वे

---

१. काव्यस्मात्या ध्वनिरिति बुधैर्य· समाम्नातपूर्वस्तस्याभावं जगदुरपरे भात्तमाहुस्तमन्ये।

केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं तेन ब्रूमः सह्यदयमनःप्रीतये तत्स्वरुपम्।।

ध्व० १/१

२. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् — भामह।

३. 'काव्यं ग्राह्यमलंङ्कात् सौन्दर्यमलंकारः — वामन।

का०सू०वृ० अधि०, प्र० अध्याय, ३/२

४. रीतिरात्मा काव्यस्य — वामन।

काव्यालंकार सू० वृत्ति, पृ० १५

उद्भावित नहीं कर सके। जिस समय भारतीय साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में काव्य के स्थूल शरीर को ही, वाचक शब्द और वाच्य अर्थ को ही सजाने सँवारने में काव्यत्व की प्रतिष्ठा समझी जाती थी, आचार्य आनन्दवर्धन ने यह प्रतिपादित किया कि काव्य की आत्मा 'ध्वनि' है [१] तथा काव्य में दो प्रकार के अर्थ सहृदयश्लाघ्य है — वाच्य और प्रतीयमान। [२] वाच्य अर्थ उपमादि अलंकारों द्वारा प्रसिद्ध हो चुका है। [३] प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में उसी प्रकार विलक्षण सौन्दर्य का आधान करता है, जिस प्रकार अंगनाओं में लावण्य। [४] यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है। [५] जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थ का सौन्दर्य मुख्य रुप से होता है, वह काव्य सबसे श्रेष्ठ है,

---

१. काव्यस्य आत्मा ध्वनि इति बुधैर्य· समाम्नातपूर्वस्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।। ध्व० १/१

२. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्य· काव्यात्मेति व्यवस्थित·।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदाभुवौ स्मृतौ।। ध्व० १/२

३. (क) तत्र वाच्यः प्रसिद्धौ यः प्रकारैरुपमादिभि·। बहुधा व्याकृतः सौन्यैः। ध्व० १/३

(ख) "सम्प्रत्यर्थलंकाराणां प्रस्तावः।
तन्मूलं चोपमा इति। सैव विचार्यते"।। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४ २.१

४. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। ध्व० १/४

५. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। ध्व० १/५

उसी को ध्वनि काव्य कहते हैं। आनन्दवर्धन द्वारा 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग और ध्वनि—सम्प्रदाय की स्थापना एक नवीन और महत्वपूर्ण कार्य था। ध्वनि की स्थापना का आधार व्यञ्जना वृत्ति द्वारा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति है। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति आनन्दवर्धन से पूर्व काल से ही मानी गई है। पूर्व काल में आलंकारिकों ने काव्य में वाच्य से भिन्न प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व को स्वीकार किया था, और इस प्रकार उन्होंने ध्वनि के मार्ग को स्पर्श कर लिया था, परन्तु उसकी व्याख्या नहीं की, और इस कार्य को आनन्दवर्धन ने किया। इस प्रकार 'काव्य की आत्मा' पर विचार करते—करते विविध आचार्य भिन्न—भिन्न परिणाम पर पहुँचे। किसी ने अलंकार को ही काव्य की आत्मा माना, किसी ने रीति को, किसी ने ध्वनि को तो किसी ने रस को । इस प्रकार अलंकारशास्त्र में अनेक मत या वाद प्रचलित रहे जो अलंकारशास्त्र के सम्प्रदाय कहलाते हैं और इस प्रकार अलंकारशास्त्र के ६ मुख्य सम्प्रदाय हो गये।

रस-सम्प्रदाय

इस सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि को माना जाता है। परन्तु नाट्शास्त्र के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके पूर्व ही रस—सिद्धांत का अविर्भाव हो चुका था। इस मान्यता की पुष्टि पणिनीय 'अष्टाध्यायी' तथा स्वंय भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' से भी होती है। जैसा कुछ विद्वानों की धारणा है, यदि नाट्यशास्त्रकृत

भरत का काल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी भी मान लिया जाये [१] तो भी आचार्य पाणिनि भरत से पूर्ववर्त्ती सिद्ध होते हैं। ऐसी दशा में पाणिनि द्वारा उल्लिखित नट्यसूत्रों के रचयिता शिलालिन् और कृशाश्व [२] नामक आचार्य निश्चित ही भरत से पूर्ववर्त्ती हुए।

इसके अतिरिक्त भरत ने स्वयं कोहल वात्स्य, शाण्डिल्य,धूर्तिल आदि नाट्य—आचार्यों का उल्लेख किया है। [३] अत: निश्चित ही नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भरत के पूर्व भी रहे हैं। किन्तु उनकी कोई कृति उपलब्ध न होने के कारण आचार्य भरत को ही समालोचनाशास्त्र का आद्य आचार्य स्वीकार करना अनुचित न होगा। अस्तु।

नाट्य का जीवितभूत परमतत्व रस ही है। क्योंकि उसी को लक्ष्य करके नाट्य के विभावादिक अर्थ प्रवृत्त होते हैं — ऐसा प्रतिपादन स्वयं भरतमुनि ने ही किया है।[४]

यह रस न केवल नाट्य का सर्वस्व है, अपितु काव्य का जीवन भी है। [१] आचार्य महिमभट्ट तो रस के अभाव में काव्य को काव्य स्वीकार करते ही

---

१. माना जाता है कि नाट्यशास्त्र की रचना ईसवीपूर्व २०० से सन् २०० ईसवी तक के काल में हुई भारतीय साहित्यशास्त्र डा० ग०त्र० देशपाण्डे, पृ० २६

२. (क) 'पराशर्य्यशिलालिभ्यां भिक्षुननटसूत्रयो:' पाणिनी अष्टाध्यायी ४/३/११०

(ख) 'कर्मन्दकृशाश्वादिन:' ४/३/१११

३. कोहलादिभिरेतेर्वा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्तिलैः एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्धनम्'।। नाट्यशास्त्र

४. 'न हि रसादृते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते' नाट्यशास्त्र ६/३१

नहीं हैं।

अतः भरत ने रस स्वरुप का विवेचन तो नहीं किया किन्तु रस प्रक्रिया का विवेचन करते हुए उन्होंने सूत्र शैली में यह बताया कि विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है —

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'

और लोक जीवन से ही इस रस निष्पत्ति का दृष्टांत प्रस्तुत करते हुए उन्होंने यह कहा कि जिस प्रकार नाना व्यञ्जनों औषधियों एवं द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है उसी प्रकार विभावादिक के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

समालोचक, कवि और ध्वन्यालोक तथा नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में रसतत्त्व का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। [२] उनके शब्दों में रस एक अलौकिक वस्तु है जो स्थायी भाव से विलक्षण है। उन्होंने स्वयं इस प्रकार कहा है — नाट्यरसाः स्मृताः। [३]

रस निष्पत्ति के चार प्रसिद्ध व्याख्याकार हैं — लोल्लट, शंङ्गुक, भट्नायक और अभिनवगुप्त। आचार्य मम्मट ने रस निरुपण में इनके मतों का विषद विवेचन किया है। इनमें क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद ये चार रस विषयक वाद प्रसिद्ध हैं।

---

१. 'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरुपे न कस्यचिद्विमतिः' हि०व्य०वि०, १/२६

२. जी०ओ०एस० — भाग १, पृ० २७४—९५ तक

३. नाट्यरसाः स्मृताः नाट्यशास्त्र ६, जी०ओ०एस० पृ० २९१

इन रस विषयक चार वादों के अतिरिक्त भामह और दण्डी आदि प्रचीन आचार्यों ने भी रस का कुछ विवेचन किया है यद्यपि उसे 'रस' न कहकर 'रसवत्' संज्ञा दी है।[१] तथा उसका अर्न्तभाव अलंकारों में किया है।

साहित्य समीक्षाशास्त्र के रङ्गमञ्च पर आनन्दवर्धन के अविर्भाव के साथ ही काव्य में रस को उसका उपयुक्त स्थान प्राप्त होता है। अत: परवर्त्ती आचार्यों के काव्य लक्षण में रस को भी स्थान मिलता है। यही कारण है कि शब्दार्थ प्रधान काव्यलक्षण करने वाले मम्मट के काव्य—लक्षण में भी रस की स्थिति व्यङ्ग्य है।[२] महिमभट्ट के समसामयिक राजा भोज ने रस को काव्य के आवश्यक उपादानों में से एक प्रतिपादित किया[३] किन्तु महिमभट्ट तो कट्टर रसवादी आचार्य हैं। वे रस को काव्य का न केवल आवश्यक उपादान बताते हैं अपितु वे इसे काव्य की आत्मा घोषित करते हैं[४] और वे रस के अभाव में किसी काव्यखण्ड को काव्य ही मानने से इंकार कर देते हैं।[५]

भरत के 'नाट्यशास्त्र' में भी रस प्रमुख विवेच्य विषय नहीं है। नाट्य प्रर्दशन

---

१. (क) 'रसदृर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा। देवीसमागमद्धर्ममस्करिण्य तिरोहिता।' काव्यालंकार ३/६

(ख) १. रतिश्रृङ्गारतां गता। रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवत्वच:।

२. इत्यारूहन परां कोटि क्रोधो रौद्रात्मतां गत: भीमस्य पश्यत: शत्रुमित्येतद्रसवद्वच:।।

— काव्यादर्श २/२८१, २८३

२. तददोषै शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृति पुन: क्वापि। काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास।

३. अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् रसान्वितं कवि: कुर्वन् कीर्ति प्रीति च विन्दती।।

सरस्वतीकण्ठाभरण १/२

४. 'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरुपे न कस्यचिद्विमति:' हि०व्य०वि०पृ० १११

५. 'तस्य रसात्मताभावे मुख्यवृत्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात् किमुत् विशिष्टत्वम्'

हि०व्य०वि०पृ० १०३

संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।[1] इस विषय में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। १. इसमें स्थायी शब्द का उल्लेख नहीं है। २. यह कुछ अस्पष्ट है। विशेषत: संयोग और निष्पत्ति शब्दों के नियोजन के विषय में। लाल्लट, शंकुक, भट्टनामक, अभिनव गुप्त ने क्रमश: इस सूत्र की चार व्याख्यायें की हैं।

लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के मूल ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। इनके मतों का सारांश उनके विरोधी अभिनवगुप्त और मम्मट आदि ने प्रस्तुत किया है। ये चार मत क्रमश: उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद, अभिव्यक्तिवाद कहलाते हैं। अभिव्यक्तिवाद को मम्मट तथा अनेक लेखक स्वीकार करते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त के मत में व्यञ्जनाशक्ति से रस अभिव्यक्त होता हैं, और रस प्रतीति होती है।[2] इन्होंने भट्टनायक के भावकत्व (साधारणीकरण) को अस्वीकार किया है और भोग को न मानकर रस प्रतीति, रसास्वाद अथवा रसचर्वणा का ही उल्लेख किया है।

आचार्य मम्मट ने काव्य—स्वरुप में रस को साक्षात निर्देश न करते हुए भी रस को काव्य का प्रधान तत्व माना है। इनका रस—स्वरूप विवेचन अभिनवगुप्त के आध ार पर है।

---

१. 'विभावानुभावब्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:' नाट्यशास्त्र ६ पृ० २७४ जी०ओ०एस०

२. 'तेन विभावादिसंयोगाद् रसना पृ० २७६ जी०ओ०एस०

यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्य सूत्रस्य'।

अभिनवभारती पृ० २८६

अलंकार सम्प्रदाय –

इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक भामहाचार्य माने जाते हैं। इनका समय ३२०—५०० शताब्दी के मध्य माना जाता है। इनका 'काव्यलंकार' ग्रन्थ ही अलंकार—शास्त्र की प्रथम स्वतंत्र तथा व्यवस्थित रचना है। किन्तु अलंकारों का विकास धीरे—धीरे हुआ था। भ्रत मुनि ने यमक, उपमा, रुपक और दीपक इन चार अलेकारों का निर्देश किया था। भामह, दण्डी, उद्भट तथा भोज आदि आचार्यों ने अलंकारों का विस्तृत विवेचना किया और आगे चलकर अलंकारों की संख्या १२५ तक पहुँच गई।

अलंकार सम्प्रदाय के अनुसार काव्य में अलंकार ही प्रधान है, वह काव्यत्व का प्रयोजक है।[१] किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि इस सम्प्रदाय में रस या ध्वनि आदि का कोई महत्व स्वीकार नहीं किया गया। आचार्य दण्डी ने रसवत् अलंकार का निरुपण किया था तथा ८ रसों का भी उल्लेख किया था।[२] रसगङ्गाधरकार का कथन है कि प्राचीन आलंकारिकों ने ध्वनि आदि को अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया था, क्योंकि रसासोक्ति, व्य।जोक्ति, पर्यायोक्ति तथा वक्रोक्ति आदि अलंकारों का निरूपण करते हुए प्रतीयमान अर्थ को भी स्वीकार कर लिया था।[३] इसी प्रकार गुणों को भी इस सम्प्रदाय ने स्वीकार किया था, किन्तु इस सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार ही कार्यनिर्वाहक

---

१. तदेवमलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्रच्याना मतम्। — अलंकारसर्वस्व ३/७

२. इह स्वष्टरसायत्ता रसक्ता स्मृता गिराम्। — कान्यादर्श २/२९२

३. यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषण: सा समासोक्ति: — आचार्य भामह पृ० २७९

धर्म था, रस आदि नहीं। अत: यहाँ रस आदि को एक प्रकार का अलंकार ही मान लिया गया था। आचार्य दण्डी ने भी रीति के साथ अलंकार की महत्ता स्वीकार की। इन्हें काव्य में अलंकार ही महत्वपूर्ण लगते थे, इन्होंने रसों को अलंकारों से गौण माना और इनका रसवत् आदि अलंकारों के रूप में उल्लेख किया। आचार्य वामन ने अलंकार शब्द को दो अर्थों में प्रयुक्त किया है, यहाँ अलंकार का अर्थ सुन्दर वस्तु से है। इन्होंने उपमादि अलंकारों से भी अलंकार शब्द का अर्थ दिखलाया है। क्योंकि इससे काव्य सुन्दर बनता है। [१]

भामह और दण्डी ने अलंकारों और गुणों में कोई विशेष अन्तर नहीं माना। अलंकार का व्यापक अर्थ लेकर दण्डी ने दस गुणों को अलंकार माना है। [२] भामह और दण्डी ने जो अलंकारों को महत्व दिया उसका परवर्ती आचार्यों ने भी अनुसरण किया।[३] आचार्य रुद्रट और प्रतिहारेन्दुराज इस मत के विशेष समर्थक हैं।

रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में 'अर्थालंकारों' को वर्गीकृत करने का

---

१. 'काव्यं ग्प्रह्यमलंकारात्। सौन्दयमलंकार·'। काव्या०सू० १/१

२. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। कश्चिन्मार्ग विभागार्थ मुक्ता: प्रागप्यलंक्रिया·'
काव्यादर्श २/१ और ३

३. 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्'। काव्यलंकार १/१३

प्रथम प्रयास किया है। जो कि श्लाघ्य है।[१]

आचार्य उद्भट ने भामह दण्डी द्वारा विवेचित अलंकारों का परिवर्तन परिवर्धन एवं वर्गीकरण किया है। उद्भट ने रसवत्, प्रेयस आदि अलंकारों के विषय में नवीन दृष्टि प्रस्तुत की है। उनके रसवदादि काव्य के लक्षण में ''ध्वनिकाव्य'' का बीज निहित है।[२] गुणालंकारों के भेद के विषय में उनका मत है कि दोनों शब्दार्थों में समवाय वृत्ति से रहते हैं। गुण रस प्रतीति के विषय में ''अव्यवधानयुक्त हेतु'' होने के कारण काव्य को सरस तथा अलंकार—अलंकृत कहते हैं। आचार्य मम्मट यद्यपि ध्वन्यालोक के कट्टर अनुयायी हैं फिर भी इनका अलंकार विवेचन ग्रन्थं में विवेचित सभी विषयों से अधिक विस्तृत है। मम्मट ने ६१ अलंकारों को परिभाषित किया है। इनके अनुसार अलंकार शरीर पर धारण किये जाने वाले अलंकारों के समान है।[३]

रीति सम्प्रदाय —

रीति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य वामन हैं। इनका समय सप्तम् और नवम्

---

१. अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्ययतिशयः श्लेषः।
ऐषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषा।। काव्यालंकार ७/९

२. रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्।। अलंकार सा०सं० चतु०वर्ग २/४६

३. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवद्लंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।
काव्यप्रकाश ८/२

शताब्दि के मध्य माना जाता है। आचार्य वामन ने ही सर्वप्रथम कार्य लक्षण का स्वरूप स्थापित करते हुए, अलंकृत ''शब्दार्थयुग्म को काव्य'' की संज्ञा प्रदान की है।[१] आचार्य वामन ने काव्य में गुणों के महत्व को प्रदर्शित करते हुये गुणों के सम्बन्ध में लाक्षणिक प्रयोग किया है— ''रीतिरात्मा काव्यस्थ''।[२] रीति के स्वरुप को बताते हुये वामन का कथन है — 'विशिष्ट पद—रचना रीति है''[३] यह वैशिष्ट्य गुण रुप है।[४] विशिष्ट पद रचना अर्थात् शब्दों की विशिष्ट व्यवस्था अथवा नियोजन को रीति कहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि काव्य रुपी शरीर की आत्मा सौन्दर्य है और वह सौन्दर्य उसमें गुणवत्ता से आर्विभूत होता है, अतः गुणों के सम्बन्ध में यह लाक्षणिक प्रयोग किया जाता है कि ''रीति काव्य की आत्मा है''।[५]

रीति सम्प्रदाय में गुणों का अत्यधिक महत्व है, अतः इसे गुण सम्प्रदाय भी कहा जाता है। आचार्य वामन ने वैदर्भी, गौडीय और पाञ्चाली इन रीतियों का विशद विवेचन किया[६] और गुण तथा अलंकार का भेद भी स्पष्ट किया।[७] आचार्य दण्डी भी

---

१. काव्यं ग्राह्यम् अलंकारात्।। का०सू० १/१

२. का०सू०द्वि०अ० पृ० १४

३. विशिष्टा पदरचना रीतिः।। का०सू० २/७

४. विशेषो गुणात्मा ।। का०सू० २/८

५. अत्र रीतेरात्मत्वमिव शब्दार्थयुगलस्य शरीरत्वमौपचारिकमित्यवगन्तव्यम् का०सू०वृत्ति, पृ० १५

६. सा च त्रिधा वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली चेति। का०सू० २/९

७. दण्डिमतं खण्डयितुं गुणालंकारभेदं दर्शयिष्यन् पीठिकां प्रतिष्ठापयति।

काव्यालंकार सूत्र, कामधेनु व्याख्या ३/१.१

कुछ अंशों में रीति सम्प्रदाय के उद्भावक हैं। उन्होंने वैदर्भी और गौडी रीति का स्पष्ट भेद किया और रीति सम्प्रदाय का मार्ग प्रशस्त किया।

वामन यह मानते हैं कि ''गुण'' काव्य के ''नित्य—धर्म'' होते हैं क्योंकि मार्धुयादि गुणों के कारण ही काव्य में शोभा उत्पन्न होती है [१] परन्तु वे ''अलंकारों'' को काव्य का ''अनित्य—धर्म'' मानते हैं[२] क्योंकि अलंकार, गुणों द्वारा उत्पादित शोभा के अभिवर्धक—मात्र होते हैं। आचार्य वामन के पश्चात् इसका भिन्न—भिन्न प्रकार में स्वरुप निरुपण किया है। आचार्य आनन्दवर्धन की पद—संघटना भी रीति का ही परिकृत रुप है, जो रस आदि को व्यक्त करती है।[३] राजेशेखर के अनुसार वचन—विन्यास का क्रम ही रीति है। [४] आगे चलकर विश्वनाथ कविराज ने रीति का विशद विवेचना किया है, उन्होंने ध्वनिकार से प्ररणा प्राप्त करके रीति का एक समन्वित लक्षण प्रस्तुत किया है। [५] इनके अनुसार रीतियाँ चार हैं — वैदर्भी, चाथ गौडी

---

१. (अ) काव्याशोभाया: कर्त्तारो धर्मा गुणा:।। का०सू०तृ०अधि० प्र०अ० ३/१

(ब) पूर्वे नित्या:।। ३/३

पूर्वे गुणा: नित्या:। का०सू०तृ०अधि०, प्र० अध्याय

२. तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा:।। का०सू०तृ०अधि०, प्र० अध्याय ३/२

३. व्यनक्ति सा रसादीन्। ध्वन्यालोक ३/५

४. वचनविन्यासक्रमो रीति:

५. पदसंघटना रीतिरंङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्। साहित्यदर्पण ९/१

च पाञ्चाली लाटिका तथा।

रुद्रट ने वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली तथा लाटिका इन चारों रीतियों का उल्लेख किया है। आचार्य वामन और अन्य लेखक उपनागरिका, परुषा और कोमला को क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीति मानते हैं।[१] काव्य प्रकाश में ऐसा उल्लेख मिलता है।

ध्वनि सम्प्रदाय —

काव्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धांत के प्रवर्त्तक आनन्दवर्धनाचार्य है। इनका समय ९वीं शताब्दी ईसा का मध्य भाग अर्थात् ८५० ई० के आस—पास निर्धारित होता है।[२] इनके विषय में और कोई उपादेय तथ्य उपलब्ध नहीं होता है। ध्वनिवाद की उद्भावना इनसे पूर्व हो चुकी थी। ध्वनिकार से पूर्व अलंकारिकों आदि ने भी पर्याय, समासोक्ति आदि अलंकारों के निरुपण में एक प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार किया था। ध्वन्यालोक भारतीय साहित्यशास्त्र में नवयुगप्रवर्त्तक ग्रन्थ है। इसमें ग्रन्थकार की मौलिक उद्भावना, सूक्ष्म विवेचन शक्ति और मननशीलता का परिचय मिलता है, इस ग्रन्थ में चार उद्योत हैं, प्रथम उद्योत में ध्वनिविरोधी विविध दृष्टिकोणों (अभाववाद, भक्तिवाद और

---

१. 'एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी, गौडी, पांचालाख्या रीतयोः मताः'।

काव्यप्रकाश ९, पृ० ४९८

२. ध्वन्यालोक की भूमिका पृ० ३५ आचार्य विश्वेश्वर

अनिवर्चनीयवाद) का उल्लेख करके उनका निराकरण किया गया है [१] तथा ध्वनि के स्वरूप की स्थापना की गई है, द्वितीय तथा तृतीय उद्योत में ध्वनि के प्रकारों का विशद विवेचन किया गया है, तथा चतुर्थ उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता का निरुपण है।

ध्वनिकार से पूर्व ध्वनि का विरोध भी होता रहा है। ध्वनिकार ने इन तीन प्रकार के ध्वनि–विरोधियों का उल्लेख करके उसका खण्डन किया तथा अपनी अनुपम प्रतिभा के आधार पर ध्वनिवाद की स्थापना किया। किन्तु समय–समय पर ध्वनिवाद का प्रबल विरोध किया गया, अनेक आचार्यों ने व्यञ्जनवाद का निबेध किया। भट्टनायक ने 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' नामक काव्य की दो शक्तियां मानकर चारु अर्थ का भावन तथा रस का आस्वादन उन्हीं के द्वारा माना। [२] दशरुपककार धनञ्जय तथा धनिक ने व्यङ्ग्य अर्थ का तात्पर्यार्थि में ही अर्न्तभाव किया और व्यञ्जना वृत्ति का निषेध किया। वक्रोक्तिकार कुन्तक तथा व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट ने ध्वनि की स्थापना का प्रबल विरोध किया। कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अर्न्तगत माना, महिमभट्ट ने व्यञ्जना के अनुमान में ही अन्तर्भाव किया, व्यङ्ग्यार्थ को अनुमेय

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वस्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचांस्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रतीये तत्स्वरूपम्।।

ध्व १/१

२. न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते, अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्वेन भोगेन भुज्यते, इति भट्टनायकः।

काव्यप्र० चतुर्थ उल्लास· पृ० १२६

बताया। आचार्य मम्मट ने समस्त विरोधों का खण्डन करके सुचारु रुप से व्यञ्जना की स्थापना की और यह व्यञ्जनावाद साहित्य के क्षेत्र में अमर हो गया।

ध्वनिसिद्धांत रस—सिद्धांत का पोषक है। इसका आधार ही यह है कि जो रस काव्य की आत्मा कहा गया है वह वाच्य नहीं होता अपितु व्यङ्ग्य (ध्वनित) ही हुआ करता है।[१] ध्वनिकार ने व्यङ्ग्यार्थ के वस्तु, अलंकार और रसादि — ये तीन प्रकार माने हैं। रसादि में भाव, रसाभास, भावाभास आदि का भी समावेश होता है। ध्वनि का स्वरुप बताते हुये आनन्दवर्धनाचार्य कहते हैं कि वह काव्यविशेष ध्वनि है, जहॉ अर्थ अपने स्वरुप को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को व्यक्त करते हैं।[२] प्रतीयमान अर्थ विलक्षण ही होते हैं, जो रमणियों के लावण्य—आदि के समान महाकवियों की वाणी में भासित होता है।[३] इस ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाते हुये ध्वनिकार ने गुण, अलंकार तथा पदसंघटना रूप रीति आदि का विवेचन किया है तथा ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित किया है। ध्वनि शब्द अत्यन्त

---

१. सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति।
प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमतंर वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन
प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेनैव। ध्वन्यालोक

२. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः, स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्व०१/१३

३. प्रतीयमानं पुनरन्यमेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तद्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। ध्व० १/४

व्यापक है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार ''वह काव्य विशेष ध्वनि है, जहाँ अर्थ अपने को तथा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं।[१] ध्वनि के इस लक्षण के द्वारा ध्वनिकार यह सिद्ध करते हैं कि वाच्य अर्थ को अलंकृत करने वाले उपमादि अलंकारों तथा वाचक शब्द को अलंकृत करने वाले अनुप्रास आदि अलंकारों को भी ध्वनि से पृथक रूप वाला ही समझना चाहिए। ये अलंकार केवल वाच्य—वाचक को ही अलंकृत करते हैं। परन्तु ध्वनि का स्थान इससे अच्छा है।[२] इससे यह स्पष्ट होता है कि ध्वनि शब्द का अर्थ है 'काव्यविशेष'। इसी की व्याख्या करते हुये अभिनवगुप्ताचार्य ध्वनि के व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ एवं व्यञ्जना व्यापार ये चार अतिरिक्त अर्थ सिद्ध करते हैं।[३] जो इस प्रकार से हैं— १. ध्वनतीति ध्वनि: व्यञ्जक : शब्द: अर्थश्च।

---

१. यत्रार्थ· शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यङ्क्त: काव्यविशेष:, स ध्वनिरिति सूरभि: कथित:।। ध्व० १/१३

२. अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च

विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम्। ध्व० १/१३ कारिका की वृत्ति।

३. तेन वाच्योऽपि ध्वनि:, वाचकोऽपि शब्दो ध्वनि:, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा।

व्यङ्ग्योऽपि ध्वनि: ध्वन्यत इति कृत्वा। शब्द व्यापार:.................. अपि त्वात्मभूत· सोऽपि

ध्वननं ध्वनि:। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थ· सोऽपि ध्वनि:। ध्व०लो०प्र०उ०पृ० २५९

२. ध्वन्यते इति व्यङ्ग्यार्थ: ध्वनि:। ३. ध्वन्यते अनेन् इति व्यञ्जना व्यापार: ध्वनि:।
४. ध्वन्यते अस्मिन् इति काव्यविशेष: ध्वनि:।

किन्तु 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' में ध्वनि शब्द का अर्थ अनुत्तरित रह जाता है। क्योंकि काव्यविशेष का वाचक ध्वनि काव्य की आत्मा हो नहीं सकता है, वह ध्वनि तो काव्य का एक भेद—मात्र है। वास्तव में यहाँ ध्वनि शब्द का अर्थ है — व्यङ्ग्यार्थ। क्योंकि प्रथम कारिका में ध्वनि को काव्य का आत्मतत्व घोषित करने के अनन्तर द्वितीय से लेकर बारहवीं कारिका तक आचार्य आनन्दवर्धन निरन्तर व्यङ्यार्थ की प्रशस्ति तथा स्थापना करते दिखाई देते हैं। द्वितीय कारिका में इस व्यङ्ग्यार्थ को सहृदयश्लाघ्य बताते हैं, [१] तो चतुर्थ कारिका में उस व्यङ्ग्यार्थ का 'प्रतीयमान' के रुप में उल्लेख करते हुए उसकी वाच्यार्थ से पृथकता सिद्ध करते हैं। [२] पाँचवीं कारिका में इस व्यङ्ग्यार्थ को पुन: जोरदार शब्दों में 'काव्य की आत्मा' कहते हैं। [३] इस प्रकार आगे की कारिकाओं में भी निरन्तर इस व्यङ्ग्यार्थ की ही विविध दृष्टियों से समीक्षा

---

१. योऽडर्थ· सहृदयश्लाघ्य: काव्यामेति व्यवस्थित:।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।। ध्व० १/२

२. प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वति वाणिषु महाकविनाम्।
यत तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। ध्व० १/४

३. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे: पुरा।
कौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत:।। ध्व० १/५

करते हुये दिखाई देते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में काव्य का आत्मतत्व है 'व्यङ्ग्यार्थ'। ध्वनि सिद्धांत में वाच्य—वाचक को पूर्ण रूप से उपेक्षित नहीं किया गया है, अपितु व्यङ्ग्यार्थ के अभिव्यञ्जना में वाच्य—वाचक को आधार—भूमि का महत्व प्राप्त है। वाच्य—वाचक उस व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति में सहायक होते हुये काव्यास्वादन काल में पृथक रूप से अनुभूत नहीं होते अपितु दोनों की एकरुपता के कारण ही चमत्कार उत्पन्न होते हैं।

ध्वनिकार की यह मान्यता है कि रसिक जनों को आस्वादन काल में दोनो की पृथकता का आभास नहीं होता है। इस प्रकार से ध्वनिकार ने काव्य के अन्त:स्थल में प्रवेश करके काव्य के सौन्दर्य के रहस्यमय मूलतत्त्व को खोज निकाला। यह तत्त्व काव्य में उसी प्रकार सुशोभित होता है जैसे — अङ्गनाओं में प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न 'लावण्य नामक तत्व'। यह व्यङ्ग्यार्थ समस्त सत्कवियों के काव्य में अन्तर्निहित 'एक रमणीय तत्व' है, जो लक्ष्य ग्रन्थों में प्रधानतत्व के रूप में विद्यमान था। [१]

---

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकविनाम्।

वत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। ध्व० १/४

वक्रोक्तिसम्प्रदाय — आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हैं। वे वक्रोक्ति को ही काव्य का प्राण मानते हैं।[१] 'वक्रोत्तिजीवित' एक महत्वपूर्ण रचना है। उसमें मौलिकता है तथा गंभीर विवेचन भी।

साहित्य के क्षेत्र में वक्रोक्ति का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। अलंकारशास्त्र में भी भामह का विचार था कि वक्र अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग काव्य का अलंकार होता है।[२]

अभिनवगुप्त ने भामह का उद्धरण देते हुए वक्रोक्ति का स्वरुप इस प्रकार स्पष्ट किया है। ''शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रुपेणावस्थानम्''। अर्थात् लोकोत्तर रुप से शब्द—अर्थ की अवस्थिति ही शब्द तथा अर्थ की वक्रता है। भामाहचार्य ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्याय मानकर इसे समस्त अलंकारों की जीवनदायिनी बतलाया है।

आचार्य दण्डी ने दो प्रकार की उक्ति मानी है — स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति। दण्डी ने इस शब्द का प्रयोग स्वभावोक्ति के विपरीतार्थ में किया है। उनके अनुसार सामान्यत: श्लेष वक्राक्ति को चमत्कारपूर्ण बनाता है।[३] किन्तु आचार्य कुन्तक ने

---

१. 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'। — आचार्य कुन्तक।

२. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्या वाचामलङ्कृतिः — काव्यालंकार। १/३६

३. 'श्लेषः सर्वासु पुष्णातिप्रायो वक्रोक्तिषु श्रियमं। भिन्नं द्विधा
स्वाभावोक्तिर्नक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्'।। — काव्यादर्श २/३६३

भामह तथा दण्डी के आधार पर ही अपनी अनूठी प्रतिभा के बल पर वक्रोक्ति के एक नए रुप की स्थापना की। कुन्तक प्रस्तुत 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति:' यह परिभाषा अवन्ती सुन्दरी से ग्रहण की गई है।[१]

कुन्तक ने वक्राक्ति को ही काव्य की आत्मा या जीवन बतलाया। वक्रोक्तिसम्प्रदाय के अनुसार ध्वनि में व्यङ्ग्य का समावेश वक्रोक्ति में ही हो जाता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार माधुर्य, प्रसाद और ओज आदि गुणों का तथा अलंकारों का भी वक्रोक्ति में ही अर्न्तभाव हो जाता है। आचार्य वामन ने वक्रोक्ति को एक अलंकार—मात्र माना और इसे पूर्णत: भिन्न अर्थ प्रदान किया — 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति:'' अर्थात् वक्रोक्ति, सादृश्य पर आधारित लक्षणा का नाम है।

औचित्य सम्प्रदाय — औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। इनका समय ९९० ई० सन् के लगभग माना जाता है। किन्तु अन्य सम्प्रदायों की भाँति औचित्यवाद का जन्म भी इसके प्रतिष्ठापक के जन्म के बहुत पहले ही हो चुका था। नाट्यशास्त्र में वेशभूषा आदि के औचित्य का निर्देश दिया गया था।[२]

---

१. 'विदग्धभणितिभङ्गिनिबेधं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावमिति अवन्तीसुन्दरी'

काव्यमीमांसा पृ ४६

२. अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।

मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते।। नाट्यशास्त्र २३/६९

औचित्यविचारचर्चा में क्षेमेन्द्र की निजी वृत्ति सहित कारिकाएं दी गई हैं। इसमें अनेक लेखकों व रचनाओं से उदाहरण लिये गये हैं, जिनमें कुछ क्षेमेन्द्र की अपनी ही हैं। उनके मत में औचित्य रससार है।[१] आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा इस प्रकार से दिया है — 'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किव यस्य तत्। उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते'।। (पृ० ६) तथा उन्होंने औचित्य का निम्नलिखित तत्त्वों से सम्बन्ध दिखाकर व्यापक चित्रण किया है। औचित्य का सम्बन्ध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण (ओज आदि) अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, उपसर्ग, काल देश आदि के अनेक वस्तुओं से दिखाया गया है।

'औचित्यविचारचर्चा' में लेखक ने ध्वन्यालोक के सिद्धांतों का सविस्तार विवेचन किया है। इन सिद्धान्तों का सार ध्वन्यालोक के निम्न श्लोक में आ जाता है — 'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यबन्धुस्तु रसस्योपनिषत्परा।'[२] आनन्दवर्धन ने स्पष्ट घोषित किया था कि रस का परम रहस्य यह औचित्य ही है। और औचित्य का अभाव ही रसभंग का हेतु है।[३]

---

१. औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे। रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना'

औचित्यविचारचर्चा का० ३

२. वक्रोक्तिजीवित में भी बताया गया है (कारिका १/३७ पृ० ५२–४ डा० डे का संस्करण) कि औचित्य तीनों भागों का विशिष्ट गुण है।

३. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषित् परा।। ध्वनि० वृत्ति० कारिका ३/१४

'औचित्य' के अभिप्राय को परिभाषित करते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं कि जो जिसके अनुकूल हो वही उचित कहलाता है और आचार्य जन 'उचित' के भाव को ही 'औचित्य' कहा करते हैं।

ध्वनि तत्त्व विवेचन — प्राचीन अलंकारिकों की सूक्ष्म बुद्धि में उस व्यङ्ग्यार्थ का उन्मीलन नहीं हो पाया था, अत: वे लक्षणकार ही इससे सवर्था अपरिचित थे, काव्यतत्त्ववेत्ता सहृदय समाज नहीं।[१]

इस कारण महाकवियों ने काव्य में सर्वत्र व्यङ्ग्यार्थ का ही सौन्दर्य रसिक जनों को आह्लादित करता है। सामान्य कवि तो केवल वाच्य वाचक मात्र से व्यवहार करते हैं। परन्तु महाकवियों को इस व्यङ्ग्यार्थ के अभिव्यञ्जन के लिए प्रयत्न नहीं करना पडता है। अत: उनकी वाणी में यह अर्थ स्वत: स्फुटित एवं प्रवाहित होता रहता है।[२] आनन्दवर्धन अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य वृत्तियों की अपेक्षा इस व्यङ्ग्यार्थ की बोधक व्यञ्जना वृत्ति को अत्यन्त विलक्षण मानते हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति केवल व्याकरण शास्त्र, शब्दार्थ शासन के ज्ञानमात्र से नहीं होती

---

१. यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्ध: लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स
एव सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्यतत्त्वम्। ध० प्र० उ०प्र० १७७

२. सरस्वती स्यादुतदर्थवस्तु नि:स्यन्दमाना महतां कवीनाम् .
आलोकसामान्यमृभिब्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।। ध्व० प्र०उ० १/७

है। वरन् इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए रसिक अर्थात् सहृदय होना आवश्यक है।[१] अपने मत की पुष्टि के लिए समुचित कारण भी आनन्दवर्धन ने प्रस्तुत किया है कि सहृदयों की तत्वार्थदर्शिनी बुद्धि वाच्य वाचक मात्र पर विश्राम नहीं करती है, वरन् उसकी बुद्धि में प्रतीय मान अर्थ एकदम अविभाषित हो जाती है। यद्यपि वाच्यार्थ के अनन्तर ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। परन्तु व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता के कारण व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति की उत्कंठा में सहृदयों को वाच्यार्थ का पृथक रुप से मान नहीं होता है।[२]

अनेक विपक्षी उस ध्वनि—तत्त्व की सत्ता का या तो निराकरण करते हैं या तो यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि काव्य में अनेक तत्त्व रमणीयता का आधान करते हैं, यदि ध्वनिकाव्य भी रमणीयता का आधान करती है, तो वाणी के अनन्त विकल्पों या तत्त्वों में से एक हो सकती है। परन्तु अभाववादियों के तर्क ध्वनि—सिद्धांत के विशाल क्षेत्र एवं महत्व के समक्ष खरे नहीं उतरते हैं। अलंकारवादियों के अनुसार रमणीयता का आधान करने वाले तत्त्व—गुण, अलंकार, वृत्ति और रीति हैं। इनका मन्तव्य है कि

---

१. शब्दार्थशासन ज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्वज्ञैरैव केवलम्।। ध्व० प्र०उ० १/६

२. तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्। ध्व० प्र०उ० १/१२

काव्य की आत्मा ये तत्त्व ही हो सकते हैं। इससे भिन्न ध्वनि नाम की कोई वस्तु नहीं है, जिसको कि काव्य की आत्मा माना जा सके।[१]

परन्तु ध्वनिकार के अनुसार उपर्युक्त सभी मार्गों का प्राण ''वाच्य—वाचक भाव हैजबकि ध्वनि का प्राणभूत—तत्त्व ''व्यङ्ग्य—व्यञ्जक भाव'' है। दोनों में स्वरुप—भेद हैं— ''ध्वनि अङ्गी है'' तथा वाच्य—वाचक की चारुता के हेतु गुणालंकार उसी अङ्गी के 'अंगमात्र' हैं।[२]

दोनों में अत्यधिक अन्तर होने के कारण ध्वनि का अर्न्तभाव रमणीयता का आधान करने वाले गुणालंकार आदि तत्त्वों में कदापि नहीं हो सकता है। इस प्रकार से सहृदयों एवं काव्यतत्ववेत्ताओं के अनुभवों, महाकवियों के काव्यों के आधार पर निर्विवाद रुप से आनन्दवर्धन के मत को स्वीकार करना पडता है, कि ''काव्य में व्यङ्ग्यार्थ ही अभीष्ट एवं प्रधान है।'' ध्वनिकार ध्वनि तत्त्व को अत्यधिक महत्व देते हुए उससे रहित काव्य को काव्य संज्ञा न प्रदान कर काव्य का ''चित्रमात्र'' कहते हैं। क्योंकि उसमें काव्य के समान शब्द एवं अर्थ का योग तो अवश्य होता है। परन्तु सहृदयों को आह्लादित करने की क्षमता नहीं होती है।

---

१. अन्ये ब्रुयुः ''नास्त्येव ध्वनि·'' प्रसिद्ध प्रस्थान व्यवतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य
काव्यत्वहाने सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।। ध्व० प्र०उ० पृ० ३५

२. व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वने।·
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्यन्तः पातिता कुतः।। ध्व० प्र०उ० पृ० ६६

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्यस्य आत्मा ध्वनि में ध्वनि शब्द का अर्थ है व्यङ्ग्यार्थ। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने व्यङ्ग्यार्थ को ही काव्य का आत्मतत्त्व प्रतिपादित किया; उनके अनुसार यह व्यङ्ग्यार्थ तीन प्रकार का होता है — (१) वस्तुरूप, (२) अलंकार रूप और (३) रसादि रूप।[१] उनमें से रस रूप अर्थ स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता, वह सदैव व्यङ्ग्य ही रहता है, अन्य दो तो वाच्य भी हो सकते हैं। यहाँ पर रसादि में आदि पर से भाव, भावाभास, भावशबलता भावसन्धि का ग्रहण होता है। व्यङ्ग्यार्थ इन तीनों रूपों में वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है।

इस व्यङ्ग्यार्थ के प्रधान्याप्रधान्य के आधार पर आनन्दवर्धन काव्य के (१) ध्वनि (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक दो भेद स्वीकार करते हैं।

१. ***ध्वनिकाव्य*** — जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलनामें प्रधान हो उसे आनन्दवर्धन ध्वनिकाव्य कहते हैं।[२]

२. ***गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य*** — जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में

---

१. सहृयर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शायिष्यते।
सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वाच्यादन्यत्वम्। ध्व० प्र० उ० पृ० ७३

२. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्व० प्र० उ० १/१३

गुणीभूत हो जाता है, उसे आनन्दवर्धन गुणीभूतव्यङ्ग्य की संज्ञा देते हैं। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में वे गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का लक्षण करते हुये कहते हैं कि —

"प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।

यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्।।"

ध्व ३/३४

जिसका आशय है कि जहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर वाच्यार्थ के साथ अन्वित हो तथा व्यङ्ग्य के साथ अन्वय के कारण वाच्यचारूत्व अधिक प्रकृष्ट हो जाये, वह गुणीभूतव्यङ्ग्य नाम का दूसरा प्रकार है। "गुणीभूतव्यङ्ग्य" शब्द में गुण के अनन्तर प्रयुक्त "अभूत तद्भावेच्वि:" को देखते हुए यह स्पष्ट है कि— यह वह काव्य है, जिसमें चारूत्व धायकत्व के कारण प्रधानभूत व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से व्यक्त होकर, लौटकर वाच्यार्थ का ही उपस्कारक होने के कारण गौण हो जाता है। काव्य की आत्मा होने के कारण "ध्वनि ही प्रधान है" किन्तु समासोक्ति आदि के स्थल ऐसे देखे जाते हैं जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण, वाच्यचारूत्व की वृद्धि करने के कारण गौण अतश्च अप्रधान हो जाता है। ध्वनिकाव्य का गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य से स्पष्ट अन्तर प्रकट करते हुये ध्वनिकार ने कहा है —

"सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासम्।

यद्व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्ण ध्वनिलक्षणम्।।" ध्व० २/३३

ध्वनिकाव्य में व्यङ्ग्य की प्रधानतया प्रतीति एवं स्फुटतया प्रतीति आवश्यक है। समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि कुछ ऐसे व्यङ्ग्य मूलक अलंकार हैं जिसमें व्यङ्ग्य की स्पष्ट प्रतीति होती है। अत: कुछ लोग तर्क करते हैं कि ध्वनिकाव्य का अर्न्तभाव इन व्यङ्ग्यमूलक अलंकारों में कर दिया जाना चाहिये। ध्वनि काव्य की अलग सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है।[१]

प्रस्तुत तथ्य का निराकरण ध्वनिकारों ने स्पष्ट शब्दों में किया है। सभी व्यङ्ग्यमूलक अलंकारों की गणना गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य कोटि में होती है; क्योंकि इनमें व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर वाच्योपस्कारक होता है। अत: वह उपकार्य न होकर उपकारक होता है।[२]

ध्वनि अपने विशाल क्षेत्र के कारण व्यापक एवं महाविषय वाला होता है तथा काव्य के समस्त अंगों की अपेक्षा प्रधान होने के कारण अंगी होता है,[३] परन्तु

---

१. "यत्रतु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्ति पर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालंकारादौ, तत्र ध्वनेरन्तरर्भावो भविष्यतीत्यादि निराकर्तुमभिहितम्"। ध्व०प्र०उ०पृ० १८१

२. यदा व्यङ्ग्योऽर्थः पुनरवि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वा देव ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति – गुणीभूतव्यङ्ग्य तोक्ता·।

ध्व०लो०प्र०उ०पृ० १८२

३. "ध्वनिर्हि महाविषयः सर्वत्र भावाद्व्यापकः समस्तप्रतिष्ठास्थानत्वाच्चाङ्गी।"

ध्व०लो०प्र०उ०पृ० २०८

अलंकारों का अलंकरणत्व किसी का अलंकरण करने पर ही सिद्ध होता है। अत: अलंकार व्यापक नहीं हो सकते हैं, काव्य के सौन्दर्यवृद्धि में सहायक होने के कारण अंग होते हैं।[१]

अत: ध्वनिकाव्य का अन्तर्भाव व्यङ्ग्यमूलक अलंकारों में असंभव है। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यञ्जनामूलक अलंकारों में वाच्य का ही चारुत्व प्रधान होता है तथा व्यङ्ग्य वाच्य का उपकारक होता है। अत: वे ध्वनिकाव्य नहीं वरन् गुणीभूतव्यङ्ग्य के विषय होते हैं, जैसे दीपकादि अलंकार में, गम्य उपमा में चारुत्व का पर्यवसान न होकर वाच्य रुप दीपक में होता है। अत: व्यङ्ग्य उपमा उपकारत्वेन अप्रधान होती है, जैसा कि ध्वनिकार ने स्वयं कहा है—

''अलंकारान्तरस्यापी प्रतीतौ यत्र भासते।

तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गोध्वनेर्मत:''।। ध्व० २/२६

''अलंकारन्तरेषु त्वनुरणनख्यालङ्कारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यप्रतिपादनौमुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेमार्ग:। तथा च दीपकादावलङ्कारे उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्या व्यवस्थानान्न ध्वनिव्यपदेश:''।

ध्व०द्वि०उ०पृ० २२७

---

१. ''न चालंकारो व्यापकोऽन्यालंकारवत्।

न चाङ्गी अलंकार्यतन्त्रत्वात्।'' ध्व०लो०प्र०उ०पृ० २०८

वाच्य और व्यङ्ग्य के प्रधान्याप्रधान्य के विषय में ध्वनिकार ने एक स्थल पर यह निर्देश दिया है कि ''चार स्थलों'' पर व्यङ्ग्य की सत्ता होने पर भी ध्वनिकाव्य व्यवहार नहीं, अपितु गुणीभूतव्यङ्ग्य ही होगी —

''व्यङ्ग्यस्य यत्राप्रधान्यं वाच्यमात्रानुमायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः।।
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थनुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्रधान्यं न प्रतीयते।।''

ध्व०प्र०उ०पृ० २३३

इस कथन का विश्लेषण करने पर व्यङ्ग्यार्थ की गुणीभूतता चार रूपों में स्पष्ट होती है —

१. वाच्यार्थ का अनुयायी होने के कारण, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान हो गया हो, जैसे— समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसादि अलंकारों में, ये सभी गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल हैं।

२. जहाँ व्यङ्ग्यार्थ का स्पष्ट आभास हो रहा हो, अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त अगूढ़ हो, जैसे— उपमादि अलंकारों के स्थल में, ऐसे स्थलों में वस्तुव्यङ्ग्य की सत्ता अपरिहार्य है, किन्तु केवल व्यङ्ग्य संस्पर्श के कारण ही चारुता नहीं होती है। अतः

व्यङ्ग्यार्थ के अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होने पर ध्वनिकाव्यता नहीं वरन् गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है [१]

३. जहाँ वाच्य एवं व्यङ्ग्य का समप्राधान्य हो, जैसे संदेह संकर में, ऐसे स्थलों में गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यता होती है।

४. जहाँ व्यङ्ग्यार्थ का अस्फुट प्राधान्य हो या प्राधान्य प्रतीत न हो रहा हो, वहाँ भी गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यता होती है।

इस प्रकार ध्वनिकार ने ध्वनिकाव्य एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है, कि उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त स्थलों में व्यङ्ग्य की प्रधान रूप से तथा स्फुट प्रतीत होने पर ही ध्वनिकाव्यता होती है।

जहाँ शब्द एवं अर्थ व्यङ्ग्यार्थ बोधन के लिए तत्पर रहते हैं, संकर से रहित, वही ध्वनिकाव्य का विषय होता है। [२]

आचार्य आनन्दवर्धन ने जिस प्रकार से ध्वनि का लक्षण किया था, उत्तरवर्ती ध्वनिआचार्यों ने प्राय: उसका अनुसरण किया। आचार्य मम्मट ने ध्वनि का लक्षण इस प्रकार से किया — ''जब वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ अतिशयित होता है, तो

---

१. यत्र प्रतीयमानोऽर्थ: प्रम्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनि:।। ध्व० २/३१

२. ''तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।
ध्वने: स एव विषयोमन्तव्य: सङ्करोज्झित:''।। ध्व०प्र०उ०पृ० १३वीं कारिका की वृत्ति

यह उत्तम काव्य कहलाता है।'' [1]

इस प्रकार मम्मट ने प्रतीयमान अर्थ के आधार पर काव्य के स्पष्ट रुप से तीन भेद — ध्वनि (उत्तम काव्य), गुणीभतव्यङ्ग्य (मध्यम काव्य) तथा चित्र (अधम काव्य) स्वीकार किये हैं।

इसी प्रकार पण्ड़ितराज जगन्नाथ ने काव्य के भेद प्रदर्शित करने में प्रतीयमान अर्थ का आधार लेकर मम्मट का अनुसरण तो किया, परन्तु कुछ भेद भी कर दिया।

इनके अनुसार ''जहाँ शब्द और अर्थ अपने को गुणीभूत करके अन्य चमत्कारी व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वह ध्वनि काव्य कहलाता है।'' जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ अप्रधान रहकर ही चमत्कार को उत्पन्न करता है, वह उत्तम गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है। जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ के चमत्कार का समानाधिकरण न होकर वाच्य अलंकार चमत्कृति का हेतु है, वह तीसरा मध्यम अर्थचित्र काव्य कहलाता है। जहाँ अर्थ के चमत्कार से उपस्कृत शब्दालंकार ही चमत्कृति है, वह चौथा अधम शब्द चित्र काव्य होता है''। [2]

विश्वनाथ कवि ने काव्य के दो ही भेद स्वीकार किये हैं —

१. ध्वनि २. गुणीभतूव्यङ्ग्य।

उनके अनुसार उत्तम काव्य वह है जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा

---

१. इदमुत्ततिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वर्निबुधै: कथित:।
अतादृशि गुधीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।। काव्यप्र० १/४

२. शब्दार्थो यत्र गुणीभववितात्मानौ .... प्रधानं तदधर्म चतुर्थम्।
— रसगंगाधर प्रथम आनन

अतिशयित होता है। उसी को ध्वनि कहते हैं।[1]

दूसरा काव्य गुणीभूत है, जहॉ की व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी नहीं।[2]

इस प्रकार विश्वनाथ के अनुसार काव्य वह काव्य है, जो रसात्मक है।[3] चित्रकाव्य में अलंकारों का ही चमत्कार होने के कारण रसात्मकता नहीं होती। अत: उन्होंने चित्रकाव्य में काव्यत्व नहीं माना होगा। परन्तु ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य, इन दोनों प्रकार के काव्यों में काव्यत्व निहित रहता है। इस प्रकार इन दोनो भेदों को प्रदर्शित करने में विश्वनाथ ने ध्वनिकार का ही आश्रय लिया है। वस्तुत: रसादि के तात्पर्य से जब काव्य का निबन्धन किया जाता है, तो गुणीभूतव्यङ्ग्य और ध्वनि काव्य में भेद ही कहाँ रह जाता है। रसादि की तात्पर्य की दृष्टि से गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य को भी आनन्दवर्धन ने ध्वनि रूप ही कहा है।[4] ध्वनि काव्य के तीन भेद हैं— वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि, रसध्वनि। इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ के तीन भेदों का कथन करके ध्वनिकार इनका वाच्यअर्थ से क्रमश: विभेद प्रदर्शित करते हैं। वाच्य और व्यङ्ग्य का विषय भेद भी हो सकता है और उस विषय भेद से भी वाच्य और व्यङ्ग्य

---

१. वाच्यादतिशयिनी व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्य मुत्तमम्।। सा०द० ४/१

२. अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये।। सा०द० ४/१३

३. वाक्यं रसात्कं काव्यम्।। सा०द० १/३

४. प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योडपि ध्वनिरुपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुन:।। ध्वन्यालोक ३/४१

दोनों को अलग—अलग मानना होगा। जैसे — "अथवा प्रिया के सव्रण अधर को देखकर किसको क्रोध नहीं आता, मना करने पर भी न मानकर भ्रम सहित कमल को सूँघने वाली तू अब इसका फल भोग।[1] किसी अविनीता के अधर में दशनजन्य व्रण कही चौर्यरति के समय हो गया है। जब उसका पति उसको देखेगा तो उसकी दुश्चरित्रता को समझ जायेगा और अप्रसन्न होगा। इसलिए उसकी सखी उसके आस—पास विद्यमान उसके पति को लक्ष्यकरके उसको सुनाने के लिए इस प्रकार से मानो उसने पति को देखा ही नहीं है। उस अविनीता से उपर्युक्त वचन कह रही है। परन्तु उसका व्यङ्ग्य अर्थ है कि इसका ब्रण परपुरुषजन्य नहीं अपितु भ्रमरदशनजन्य है, अत: इसमें उसका कोई अपराध नहीं है। अत: यहाँ व्यङ्ग्य का विषय है नायक। इसलिए यहाँ वाच्य और व्यङ्ग्य का विषय भेद होने से व्यङ्ग्य अर्थ वाच्यार्थ से अत्यन्त भिन्न है।

इसमें और भी अनेक विषय हो सकते हैं, वाच्यार्थ का विषय तो प्रत्येक दशा में अविनीता नायिका ही रहेगी, परन्तु व्यङ्ग्य का विषय अन्य भी हो सकता है।

अलंकार ध्वनि — आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धांत में अलंकारों का भी समावेश कर लिया था। उन्होंने कहा कि उपमा, रूपक आदि अलंकारों का काव्य में नियोजित रस

---

१. कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमपद्माघ्रायिणी वारितवामे सहस्वेदानीम्।। ध्वन्यालोक १/१६

की उपेक्षा से करनी चाहिए। जो अलंकार बिना किसी अन्य प्रयास के, स्वभाविक रूप से आक्षिप्त, विभाग आदि में रचना में आ जाता है। वही अलंकार मान्य होता है।[1]

आनन्दवर्धन से पूर्व काव्यों में अलंकारों को अधिक महत्व प्राप्त था। अलंकारवादियों ने रस आदि को भी अलंकारों में अर्न्तभावित करके रसवदलंकार आदि का प्रतिपादन किया था। उनके अनुसार काव्य में जब रस की स्थिति है, तो रसवदलंकार है,[2] तथा भाव की स्थिति होने पर प्रेयोऽलंकार होता है।

आनन्दवर्धन ने रस को अलंकारों की जगह से मुक्त किया और जहॉ रस अप्रधान रुप से रहता है, वहॉ रसवद्लंकार होता है और जहॉ प्रधान होता है, वहाँ रसध्वनि होती है।[3] रसो की योजना के अनुसार ही अलंकारों का निवेशन करना चाहिए, क्योकि अलंकार काव्य के सौन्दर्य के हेतु होते हैं। यह ध्वनिकार का मन्तव्य था।

भामह आदि अलंकारिकों ने अलंकारों को काव्य सौन्दर्यधायक आत्मतत्व के रुप में निश्चित किया था, परन्तु ध्वनिकार ने कहा कि ये अलंकार काव्य के शरीर

---

१. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारौ ध्वनौ मतः।। ध्व० २/१६

२. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्ग तु रसादयः
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति ये मतिः।। ध्व० २/५

३. वाच्यवाचक चारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वर्नेषियो भवेत्।। ध्व० २/४

शब्द एवं अर्थ को उसी प्रकार से सुशोभित करते हैं, जिस प्रकार से युवती के शरीर को कुण्डल आदि अलंकार सुशोभित करते हैं। अलंकारों के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन की इस स्थापना को उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने स्वीकार कर लिया।

रस ध्वनि – 'ध्वन्यालोक' की रचना से पहले काव्यों में रस को बहुत महत्व दिया गया था। आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में लिखा था – 'न हि रसाद्श्रच्ते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते'। रस के बिना कोई भी अर्थ परिवर्तित नहीं होता। 'ध्वन्यालोक' की रचना के पश्चात् भी काव्यों में रस का महत्व व्यापक एवं असंदिग्ध रुप से स्थापित था। ध्वनिकार ने रस का समावेश ध्वनि के अर्न्तगत कर लिया। उन्होंने कहा कि ध्वनि तीन प्रकार की है, वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि।

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आनन्दवर्धन ने रस के महत्व को कुछ कम कर दिया। वस्तुत: वे इस सिद्धांत के प्रबल समर्थक थे। इसको प्रतीयमान अर्थ का ही एक रुप देकर उन्होंने रस की अद्वितीयता प्रतिपादित की। आचार्य भरत ने काव्यों में रस की अनिवार्यता को प्रतिपादित किया, परन्तु यह नहीं बताया कि काव्य में उसका नियोजन किस प्रकार से करना चाहिए। आचार्य आनन्दवर्धन ने यह प्रतिपादित किया कि रस स्वशब्दवाच्य न होकर प्रतीयमान अर्थ के रुप में होना

---

१. यस्य स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिक व्यवहार पतित: .... स च रसर्ध्वनेरेवेति।।

ध्व० ३/४१

चाहिए। यह ही रसध्वनि है और यह ही मुख्य रुप से काव्य की आत्मा है।[१]

रस का ध्वनि में समावेश करके भी आनन्दवर्धन ने रसध्वनि को ही सबसे अधिक महत्व दिया। उनका मन्तव्य था कि वस्तु और अलंकार ध्वनियाँ भी रस के प्रति पर्यवसित होती है। अत: सामान्यत: जब ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा गया तो वस्तुत: रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

रसादि की योजना काव्य में न होने पर वे उस रचना को काव्य मानते ही नहीं हैं।[१] इसी कारण उन्होंने चित्रकाव्य को काव्य न कहकर काव्य की अनुकृति कहा।[२]

आनन्दवर्धन से पूर्व काव्यों में अलंकारों को अधिक महत्व प्राप्त था। अलंकार वादियों ने रस आदि को भी अलंकारों में अन्तर्भावित करके रसवदलंकार आदि का प्रतिपादन किया था। उनके अनुसार काव्य में जब रस की स्थिति है तो रसवदलंकार है तथा भाव की स्थिति होने पर प्रेयोऽलंकार होता है। आनन्दवर्धन ने रस को अलंकारों की जकड़ से मुक्त किया, और कहा कि जहाँ काव्य की रचना रस के तात्पर्य से होती है, तथा जहाँ रस प्रधान होता है, वहाँ रसध्वनि होती है[३] और जहाँ

---

१. यस्तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव।
यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते।
वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद रसस्य भावस्यवाङ्गत्वं प्रतिपद्यते।
ध्व० ३/४३ की वृत्ति।

२. न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यनुकारो ह्यसौ। ध्व० ३/४३ की वृत्ति से।

३. वाच्यवाचक चारुत्व हेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र सा ध्वनेर्विषयो भवेत्।। ध्व० २/४

रस अप्रधान रुप से रहता है, वहाँ रसवद आदि अलंकार होते हें।[१] रसों की योजना के अनुसार ही अलंकारों का निवेशन करना चाहिए, तभी वे काव्य के सौन्दर्य के हेतु होते हैं। ऐसा ध्वनिकार का मन्तव्य था।

उन्होंने यमक आदि श्लिष्ट और प्रयत्नसाध्य अलंकारों के नियोजनका ध्वनिकाव्य में निषेध किया था।[२]

ध्वनि सिद्धांत की चर्चा का प्रारम्भ 'ध्वन्यालोक' की रचना से पूर्व ही समालोचकों में हो चुका था। इस बात को स्वयं आनन्दवर्धन ने स्वीकार किया है।

'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं और वृत्ति में स्थान–स्थान पर इस प्रकार के वाक्य हैं जो यह प्रतिपादित करते हैं कि ध्वनि के सिद्धांत का आविर्भाव आनन्दवर्धन से पूर्व हो चुका था।[३]

ध्वन्यालोक की कारिकाओं और वृत्ति से तथा इस पर अभिनवगुप्त की टीका से यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन से पूर्व भी विद्वान समालोचकों में ध्वनि की चर्चा थी और वे ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करते थे। परन्तु उससे पहले किसी ने

---

१. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्रांङ्ग तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः।। ध्व० २/५

२. ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि पमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।। ध्व० २/१५

३. ''काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्ननातपूर्वः'' ध्वन्यालोक १/१

पुस्तक के रुप में सम्पादित करके ध्वनि के सिद्धांत की स्थापना नहीं की।

आनन्दवर्धन का कथन है, कि ध्वनि से केवल समालोचक ही परिचित नहीं थे, अपितु महान कवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि भी ध्वनि तत्त्व से परिचित थे, क्योंकि उनके काव्यों में ध्वनि तत्त्व सर्वत्र लक्षित है।[१] ध्वनि का आधार प्रतीयमान अर्थ है। इस प्रतीयमान अर्थ से प्राचीन अलंकार वादी आचार्य सुपरिचित थे। जिन आचार्यों ने अलंकारों को ही काव्य की शोभा का आधायक तत्त्व स्वीकार किया है, जैसे कि — भामह, उन्होंने भी अनेक अलंकारों में, पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि में प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य को स्वीकार किया है।[२] इस आधार पर अलंकारवादियों ने ध्वनि को अलंकारों में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया था, परन्तु वे इससे मुख्य समस्या का समाधान नहीं कर पाये थे उद्भट् ने भी रस आदि ध्वनियों को रसवत्, प्रेय, उर्जस्वि आदि अलंकारों में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया। ध्वनितत्व की चर्चा आनन्दवर्धन से पहले समालोचकों में प्रतिष्ठा को प्राप्त हो चुकी थी, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है, क्योंकि ध्वनिकारों ने अपने ग्रन्थ में ध्वनि विरोधी मतों का उल्लेख

---

१. तस्य हि ध्वने: स्वरुपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतम्, अतिरमणीयम्, अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानाम् आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।

— ध्व० १/१ वृत्ति से

२. पर्यायोक्तेऽपि यदि प्रधान्येन व्यङ्ग्यत्व तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भाव:। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भाव:। तस्य महाविषयेत्वेनाङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात।

— ध्व० १/१३ वृत्त से

करके उनका खण्डन किया है।

आचार्य ने ध्वन्यालोक की पहली ही कारिका में ध्वनि विरोधियों के तीन मतों का उल्लेख करके उनका खण्डन किया है।

ध्वनिकार ने तीन प्रकार के विरोधियों की कल्पना की थी — एक अभाववादी दूसरे लक्षण में ध्वनि (व्यञ्जना) का अन्तर्भाव करने वाले, और तीसरे वे जो ध्वनि का अनुभव तो करते हैं, परन्तु उसकी व्याख्या असंभव मानते हैं।[१] तदन्तर आचार्य आनन्दवर्धन ने इनकी युक्तियों को प्रस्तुत करके उनका खण्डन किया है। इस सम्बन्ध में ध्वनिकार ने किसी अन्य कवि के श्लोक को उद्धृत किया है,[२] जो कि ध्वनि सिद्धांत का प्रबल विरोधी था। आचार्य अभिनव गुप्त ने अनुसार इस श्लोक के लेखक का नाम मनोरथ था।[३] कुछ प्राचीन साहित्य के अनुसार मनोरथ का समय निश्चित सा है। मनोरथ के इस श्लोक में ध्वनि का विरोध होने से और ध्वनिविरोधियों का ध्वनिकार द्वारा उल्लेख होने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है, कि आनन्दवर्धन से बहुत पहले ध्वनि—सिद्धांत का प्रवर्त्तन हो चुका था। यह निश्चित है।

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वस्तपूर्वस्तस्याभावं जगदुपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।

ध्वन्यालोक १/१

२. यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्जन मनः प्रह्लादि सालङ्कृति ....

.... पृष्टः स्वरुपंध्वनेः।। ध्व १/१ वृत्ति से

३. अन्येनेति। ग्रन्थकृतसमानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना। मनोरथ

ध्वनिविरोधियों की कल्पना तो ध्वनिकारों ने स्वयं कर ली थी परन्तु इसके बाद भी तो इस सिद्धांत का बहुत विरोध हुआ। परर्त्ती विरोधियों में सबसे ज्यादा पराक्रमी थे — भट्टनायक, महिभट्ट तथा कुन्तक।

भट्टनायक ने 'हृदसदर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में भट्टनायक ने ध्वनिसिद्धांत का खण्डन किया था।[१] भट्टनायक ने व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नहीं किया था। वे रस के आस्वादन को तो स्वीकार करते थे, परन्तु उसके लिए वे व्यञ्जना वृत्ति की आवश्यकता नहीं समझते थे। काव्य में उन्होंने केवल अभिधावृत्ति की आवश्यकता समझी तथा इसके आस्वादन के लिए 'भावकतत्व' तथा 'भोजकतत्व' की शक्ति की स्थापना की।

आचार्य आनन्दवर्धन के आलोचकों में महिभट्ट का स्थान सर्वोपरि है। इन्होंने व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता को मानने का खण्डन किया और ध्वनिवादियों के 'प्रतीयमान' अर्थ की प्रतीति 'अनुमान' द्वारा प्रतिपादित की। इन्होंने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ की रचना इसलिए जिससे कि वे ध्वनि का अन्तर्भाव 'अनुमान' में प्रतिपादित कर सकें।[२]

महिभट्ट ने सबसे पहले आनन्दवर्धन के ध्वनि की परिभाषा 'यत्रार्थः शब्दो

---

१. दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थेऽपि — व्यक्तिविवेक

२. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।। — व्यक्तिविवेक

वा० [1] को लिया और उसके एक–एक पद की कडी आलोचना की। [2] ध्वनि के विरोधियों का खण्डन करते हुए आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत में अनुमितिवादियों का उल्लेख नहीं किया है, तथापि तीसरे उद्योत में व्यञ्जनावृत्ति की अनिवार्यता को प्रतिपादित करते हुए उन्होंने प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति को अनुमान प्रतीति से भिन्न प्रतिपादित करके अनुमीतिवाद का खण्डन अवश्य किया है।

आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ ध्वनि की स्थापना के विरोध में थी आनन्दवर्धन की उन्होंने आलोचना नहीं की, अपितु ध्वनिसिद्धांत से परिचित होकर इन्होंने सभी प्रकार की ध्वनियों को 'वक्रोक्ति' के अर्न्तगत प्रतिपादित किया। उनके अनुसार ध्वनि स्वतन्त्र काव्य नहीं हैं, अपितु 'वक्रोक्ति का ही एक भेद है।

कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धांत 'काव्यलंकार' के रचयिता भामह के ही सिद्धांत का विशद प्रतिपादन है। [3] उनके अनुसार 'वक्रोक्ति' शब्द और अर्थ से भिन्न कोई अलग महनीय पदार्थ नहीं है, जैसा कि ध्वनिकार रसध्वनि या अलंकार ध्वनि को मानते

---

१. ध्वन्यालोक १/१३

२. एतच्च विविच्यमानमनुमानस्यैव संगच्छते नान्यस्य।
तथाद्वि .... गुणतामतिवर्तते।। व्यक्तिविवेक प्रथम विमर्श।

३. सैषा सर्वैष, वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्य: कोऽलंकारोऽनया विना।। काव्यालंकार २/८५

हैं। अत: कुन्तक 'वक्रोक्ति' को काव्य का प्राण प्रतिपादित करते हैं।[1]

काव्य में रस के चमत्कार को स्वीकार करते हुए भी कुन्तक ने उसको काव्य का प्राण नहीं माना, किन्तु वक्रोक्ति को भी रस में सममि्लत करके अलंकार मान लिया। उसके अनुसार काव्य में रस भी उसी प्रकार चमत्कार उत्पन्न करता है, जिस प्रकार अन्य अलंकार करते हैं।

काव्य के समालोचकों में क्षेमेन्द्र का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान है यह प्रसिद्ध समालोचक और टीकाकार अभिनवगुप्त के ही शिष्य थे। उन्होने 'औचित्य' को काव्य का प्रमाण माना।[2] क्षेमेन्द्र से पूर्व आनन्दवर्धन ने अपनी ध्वन्यालोक में औचित्य का प्रतिपादन किया था, और कहा था कि इसकी सम्यक् अभिव्यञ्जना के लिए अविभाव, अनुभाव और स्थायी भावों के कथन में औचित्य का ध्यान रखना चाहिए। औचित्य के अभाव में रसभंग का दोष उत्पन्न हो जाता है।[3]

---

१. वक्रोक्ति: काव्यजीवितम्। वक्रोक्ति: का लक्षण ...... वक्रोक्तिरेववैदग्ध्य भङ्गीभणितिरुच्यते। — वक्रोक्तिजीवित

२. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। — औ०वि० चर्चा कारिका ७

३. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु, रसस्योपनिषत्परा।। — ध्व ३/१४ वृत्ति से

ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का शास्त्रीय विवेचन

ध्वनिकार ने काव्य के दो भेद माने हैं — (१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य। दोनों काव्य भेदों के विभाजन का आधार प्रतीयमानार्थ की प्रधानता और अप्रधानता ही है। ध्वनिकार दोनों भेदों को समान रुप से चारुतायुक्त तथा उत्कृष्ट कोटि के काव्य मानते हैं।

ध्वनि कारिका में प्रयुक्त ''उपसर्जनीकृतस्वायौ'' पद 'ध्वनि' के स्वरुप का निर्णायक होने के साथ ही गुणीभूतव्यङ्ग्य से ध्वनि काव्य का व्यावर्तक भी है। यह स्पष्ट होता है। 'उपसर्जनीकृतस्वायौ' पद से स्पष्ट है, कि — जहॉ अर्थ अपने स्वरुप को शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर अपने प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को 'ध्वनि काव्य' कहते हैं।[१]

इसके विपरीत जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के साथ अन्वित होने के कारण वाच्यार्थ ही अधिक चारुयुक्त अत: प्रधान होता है। वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है।

ध्वनि काव्य का गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य से स्पष्ट अन्तर प्रकट करते हुए ध्वनिकार ने कहा है —

---

१. यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित:।। ध्व० १/१३

प्रस्तुत तथ्य का ध्वनिकार ने स्पष्ट शब्दों में निराकरण कर दिया है। सभी व्यङ्ग्यमूलक अलंकारों की गणना गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य कोटि में होती है, क्योंकि इनमें व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर वाच्योपस्कारक होता है। अत: वह उपकार्य न होकर उपकारक होता है।[१]

ध्वनिकाव्यों की समस्त अंगों की अपेक्षा प्रधान होने के कारण अंगी होता है,[२] परन्तु अलंकारों का अलंकरणत्व किसी का अलंकरण करने पर ही सिद्ध होता है। अत: अलंकार व्यापक नहीं हो सकते काव्य के सौन्दर्यवृद्धि में सहायक होने के कारण अंग होते हैं।[३] अत: ध्वनिकाव्य का अर्न्तभाव व्यङ्ग्यमूलक अलंकारों में असंम्भव है। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यञ्जनामूलक अलंकारों में वाच्य का ही चारुत्व प्रधान होता है तथा व्यङ्ग्य वाच्य का उपकारक होता है। अत: वे ध्वनिकाव्य नहीं गुणीभूतव्यङ्ग्य के विषय होते हैं।

---

१. "यदा व्यङ्ग्योऽर्थः पुनरक्ति वाच्यमेवानुप्राणयमन्नास्ते तदा तदुपकरण् त्वादेव ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति .... गुणीभूतव्यङ्ग्यतोक्ता"।

ध्व० लो० प्र० उ० पृ० १८२

२. ध्वनिर्हि महाविषयः सर्वत्र भावाद्व्यापकः समस्तप्रतिष्ठास्थानत्वाच्चाङ्गी"।

ध्व० लो० प्र० उ० पृ० २०८

३. "न चालंकारो व्यापकोऽन्यालंकारवत्। न चाङ्गी, अलंकार्यतन्त्रत्वात्"।

ध्व० लो० प्र० उ० पृ० २०८

इस प्रकार ध्वनिकारक आनन्दवर्धन ने ध्वनिकाव्य एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि व्यङ्ग्य की प्रधान रुप से एवं स्फुट प्रतीति होने पर ही ध्वनिकाव्यता होती है। जहाँ शब्द एवं अर्थ व्यङ्ग्यार्थ बोधन के लिये तत्पर रहते हैं, संकर से रहित वही ध्वनिकाव्य का विषय होता है।[१]

विवेचक दृष्टि से काव्यात्मभूत—तत्त्व का अन्वेषण करने पर दोनों काव्य भेदों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है, परन्तु रस प्रतीति के अवसर पर रसध्वनि में ही अन्तत: पर्यवसान होने के कारण दोनों काव्य भेद समान रूप से आह्लादक प्रतीत होते हैं।[२] ध्वनिकाव्य में व्यङ्ग्यार्थ अन्य तत्वों की अपेक्षा प्रधान होता है, परन्तु जहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर वाच्यार्थ का अलंकरण करता है, एवं व्यङ्ग्यार्थ से अलंकृत होने के कारण ही वाच्यार्थ में चारुता उत्पन्न होती है, वहाँ व्यङ्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होने के कारण 'मध्यम कक्षा' में सनिविष्ट हो जाता है। इस प्रकार स्वतंत्र रूप से रस प्रतीति कराने में समर्थ नहीं होता है। वाच्यार्थ का 'उपकारक मात्र' ही रहता है, फिर भी काव्य विशेष का पर्यवसान भी रसध्वनि में होता है। उस काव्य विशेष को

---

१. "तत्परोवेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।

ध्वने: स एव विषयो मन्तव्य: सङ्करोज्झित:"॥ ध्व० प्र० उ० कारिका १३वीं की वृत्ति

२. "प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरुपताम्।

धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुन:"॥ ध्व० ३/४०

ध्वनिकार ने 'गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य' की संज्ञा दी है।[१]

आनन्दवर्धनाचार्य ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक में कहीं भी 'उत्तम' या 'मध्यम' काव्य पद का प्रयोग नहीं किया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में दोनों काव्य भेद उच्चकोटिक एवं सहृदय–श्लाघ्य हैं। ध्वनिकाव्य के विषय में उन्होंने कहा ही है कि महाकवियों की वाणी रसध्वनि इत्यादि रूप प्रतीयमान अर्थ को स्वयं ही प्रवाहित करने वाली होती है, जो कवि प्रतीयमान अर्थ को इस रूप में प्रवाहित करने वाला होता है, उसी को महाकवित्व की संज्ञा प्राप्त होती है।[२]

गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल पर भी वे यह स्पष्ट करते है कि यदि कविगण व्यङ्ग्यार्थ को गुणीभूत रूप में भी निबद्ध करते हैं तब भी यह व्यङ्ग्य, कविवाणी को पवित्र करता है[३] अर्थात् गुणीभूतव्यङ्ग्य का भी इतना अधिक महत्व है कि उसका अपने काव्य में वर्णन करने से कवि को प्रसिद्धि प्राप्त होती है। ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के विषय में स्पष्ट निर्देश किया है कि जहाँ भी व्यङ्ग्य अप्रधान होकर

---

१. यदा व्यङ्ग्योर्थः पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति। .... तथापि मध्यम कक्षानिविष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थो न रसोन्मुखी भवति स्वातन्त्रेयणापि तु वाच्यमेवार्थ संस्कर्तु धावतीति गुणीभूतव्यङ्ग्यतोक्ता।

ध्व० लो० पृ० १८२

२. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कविनाम्।
आलोकसामान्यमभिव्यक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।। ध्व० प्र० उ० १/६

३. अधुना तु गुणीभूतोऽप्ययं व्यङ्ग्यः कविवाचः पवित्रयतीत्यमुनाद्वारेण तस्यैवात्मकत्वं समर्थयितुमाह।

ध्व० लो० तृ० उ० पृ० १२३

अन्य वाक्यार्थ का उत्कर्षाधायक बने तथा वाच्य प्रधान हो, वह सम्पूर्ण स्थल गुणीभूतव्यङ्ग्य का है।

ध्वनिकार यह मानते हैं कि व्यङ्ग्यार्थ तीन प्रकार का होता है — वस्तुरुप, अलंकाररुप, रसादिरुप। यहाँ आदि पद से भाव, भावाभास, भावशबलता, भावसन्धि का ग्रहण होता है। व्यङ्ग्यार्थ इन तीनों रूपों में वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है।

काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की जिस रूप में प्रधानता होती है, वहाँ वही ध्वनि होती है जैसे वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि, रसादिध्वनि।[१] व्यङ्ग्यार्थ के उर्पयुक्त तीनों प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य का रूप भी धारण करते हैं, परन्तु प्रत्येक गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकार वाच्य से सर्वथा भिन्न होता है। इस प्रकार वस्तु व्यङ्ग्य के समस्त भेद, अलंकार व्यङ्ग्य के समस्त भेद, रसादि व्यङ्ग्य के समस्त भेद, काव्य में तिरस्कृत वाच्यार्थ के कारण प्रतीयमान व्यक्त होकर जब वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान गौण हो जाते हैं, तब वही गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का रूप धारण करते हैं।[२]

---

१. स ह्यर्थौ वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शष्यिते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वाच्यादन्यत्वम्।।

ध्व० प्र० उ० पृ० ७३

२. (अ) तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्यार्थपेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता।

ध्व० तृ० उ० पृ० १२३

(ब) व्यङ्ग्यं वस्तवादित्रयं तत्र वस्तुनो व्यङ्ग्यस्य ये भेदा उक्तास्तेषां क्रमेण गुणभावं दर्शयति।

ध्व० तृ० उ० पृ० १२३

ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध करके ध्वनिकार उनके दो मुख्य भेदों को प्रदर्शित करते हैं। ध्वनि के प्रथमत: दो भेद होते हैं — (१) अविवक्षितवाच्य, (२) विवक्षितान्यपरवाच्य। [१]

(१) ***अविवक्षितवाच्य*** — लक्षणामूलध्वनि अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। ''अविवक्षितवाच्य: मुख्यार्थ: यत्र स,'' जिसमें वाच्य अर्थ की विवक्षा नहीं होती। मुख्य वाच्य अर्थ के बाधित होने से इसमें लक्ष्य अर्थ विवक्षित होता है, अत: इसको लक्षणामूल भी कहते हैं। इसके सम्बन्ध में मम्मट ने कहा है —

''लक्षणामूलगूढ़व्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षितं वाच्यं यत्र स 'ध्वनौ' इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेय:।''

(२) विवक्षितान्यपरवाच्य — अभिधामूल ध्वनि को विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि कहते हैं। ''विवक्षितम् अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठं च वाच्यं यत्र स।'' जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित होने पर भी व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति निष्ठ होता है, वह विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि है।

इनमें से प्रथम अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल ध्वनि) का उदाहरण इस प्रकार है —

---

३. अस्ति ध्वनि:। स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविध: सामान्येन।

— ध्व०प्र०उ० कारिका १३ की व्याख्या

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।

सूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम।। — ध्व०प्र०उ०कारिका १३

सुवर्ण जिसका पुष्प है ऐसी पृथिवी का चयन (अर्थात् पृथिवीरूप लता के सुवर्णरूप पुष्पों का चयन) तीन ही पुरुष करते हें — शूर, विद्वान और जो सेवा करना जानता है।

प्रस्तुत श्लोक में न तो पृथिवी कोई लता है, न सुवर्ण पुष्प और न उसका चयन ही हो सकता है अतः 'सुवर्णपुष्पा पृथिवी का चयन' यह वाक्य यथाश्रुतरूप में अन्वित नहीं हो सकता, इसलिये मुख्यार्थबाध होने से लक्षणा द्वारा विपुल धन और उसके अनायासोपार्जन से सुलभ समृद्धिसम्भारभाजनता को व्यक्त करता है लक्षणा का प्रायोजन, शूर, कृतविद्य और सेवकों का प्राशस्त्य, स्वपद से वाच्य न होकर गोप्यमान कामिनीकुचकलवशत् सौन्दर्यातिशयरूप से ध्वनित होता है। लक्षणामूल होने से इसको 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' कहते हैं।

दूसरे (विवक्षितान्यपरवाच्य, अभिधामूलध्वनि) का उदाहरण —

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।

सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः।।

— ध्व०प्र०उ०कारिका १३

हे सुमुखि! इस शुकशावक ने किस पर्वत पर, कितने दिनों तक, कौन सा तप किया है, जिसके कारण तुम्हारे अधर के समान रक्तवर्ण बिम्बफल को काट रहा है।

इस पद्य में नायिका के अधर को प्राप्त करने में सौभाग्य का अतिशय, एवं उसके रसास्वादन की अभिलाषा व्यञ्जित होती है। 'क्व शिखरिणि' से व्यञ्जित है कि श्रीपर्वत आदि पवित्र धाम भी तपस्या का यह फल नहीं दे सकते। 'कियच्चिरं' का अभिप्राय है कि इस तपस्या के लिये कल्प आदि की अवधि बहुत कम है। 'किमभिधानम्' का अभिप्राय है कि यह फल 'पञ्चाग्नि' आदि तप से भी प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार नायिका के अधर को प्राप्त करने में सौभाग्य का अतिशय अभिव्यक्त होकर कामुक नायक अपनी प्रेमिका के रक्तवर्ण के अधर का आस्वादन करने की कामना अभिव्यक्त कर रहा है।

प्रस्तुत श्लोक में 'तवाधरपाटलम्' में 'तव' पद का असमस्त स्वतन्त्र षष्ठयन्त पद के रूप में प्रयोग किया है। 'त्वदधरपाटलम्' ऐसा समस्त प्रयोग नहीं किया है। इसे कुछ लोग केवल छन्द के लिये किया हुआ प्रयोग मानते हैं, परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। यहाँ अधर के साथ त्वत् पदार्थ अर्थात् सम्बोधित की जाने वाली नायिका का सम्बन्ध प्राधान्येन बोधन अभीष्ट है। यदि 'तव' पद को समास में डाल दिया जाय तो वह अधर पदार्थ का विशेषण मात्र हो जाने से प्रधान नहीं रहेगा। इस प्रकार यहाँ अधरान्वित् त्वत् पदार्थ का प्रयोज्यत्वसम्बन्ध से बिम्बफलकर्मक दशन के साथ भी अन्वय होकर तुम्हारे

अधरारूण्य के लाभ से गर्वित बिम्बफल को तुम्हारे सम्बन्ध से ही, मुख्यत: तुमको लक्ष्य में रखकर ही दशन कर रहा है, यह अर्थ विवक्षित हो रहा है।

यहाँ अभिधा, तात्त्पर्य और व्यञ्जना इन तीन वृत्तियों के ही व्यापार होते हैं। यहॉ सौन्दर्य से ही व्यङ्गय की प्रतीति होने से अभिधा और तात्पर्य शक्ति मुख्य सहकारिणी हैं।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद होते है। १— अर्थान्तरसङ्क्रमित, २— अत्यन्त तिरस्कृत। अविवक्षित वाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि का वाच्य कहीं अर्थान्तरसंक्रमित और कहीं अत्यन्ततिरस्कृत होने से दो प्रकार का माना गया है।[१] ध्वनि के व्यञ्जना व्यापार में जो सहकारी वर्ग लक्षणा, वक्तविवक्षादि हैं उन्हीं के प्रभाव से वाच्यार्थ की दोनो अवस्थायें होती हैं। कहीं वह अर्थान्तर में सङ्क्रमित कर दिया जाता है और कहीं अत्यन्त तिरस्कृत। यह व्यञ्जना के सहकारी वर्ग लक्षणा के प्रभाव से है। इसलिये अविवक्षितवाच्यध्वनि का दूसरा नाम लक्षणामूलध्वनि भी है।

अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य का उदाहरण —

तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैगृहान्ते

रविकिरणानुगृहीतानि भवति कमलानि कमलानि।

---

१. अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।

अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्।। — ध्व० २/१

(गुण) गुण तभी होते हैं जब सहृदय उनको ग्रहण करते हैं, सूर्य की किरणों से अनुगृहीत कमल ही कमल होते हैं।

यहाॅ द्वितीय कमल शब्द (अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य) है।

यहाँ द्वितीय कमल शब्द लक्षणा द्वारा लक्ष्मीभाजनत्वादिधर्मविशिष्ट कमल का बोधक होने से अर्थान्तरसङ्क्रमित है, और चारूत्व का अतिशय व्यङ्ग्य है। इसी प्रकार पूर्वार्द्ध में गुण शब्द की भी आवृत्ति मानकर गुण तभी तक गुण होते हैं जब सहृदय उनको ग्रहण करते हैं। उस दशा में द्वितीय गुण शब्द उत्कृष्टत्वादिधर्मविशिष्ट गुण का बोधक होने से अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य होगा और उस उत्कर्ष का अतिशय व्यङ्ग्य होगा।

यह उदाहरण 'विषमबाणलीला' नामक काव्य से गृहीत है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण — जैसे आदिकवि बाल्मिकी का (पञ्चवटी में हेमन्त वर्णन के प्रसंग में रामचन्द्र जी का कहा हुआ यह श्लोक)

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।

निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।।

यहाँ अन्ध शब्द (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) है। अन्ध शब्द अपने अर्थ को सर्वथा छोड़कर अप्रकाशरूप अर्थ का बोधन करता है इसीलिये अन्ध शब्द का मुख्यार्थ यहाँ अत्यन्ततिरस्कृत हो जाता है। इसी से इसको 'अत्यन्ततिरस्कृत

वाच्यध्वनि' का उदाहरण माना है।

यहाँ अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि के जो अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दो भेद दिखाये हैं वे वाच्यार्थ की प्रतीति के स्वरूप—भेद से हैं।

विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के दो भेद — १— असंलक्ष्यक्रम—व्यङ्ग्य, २— संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) असंलक्षित क्रम से और दूसरा संलक्षित क्रम से प्रकाशित होने से दो प्रकार का माना गया है।[१]

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य — प्रधान रूप से प्रकाशित होने वाला व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि की आत्मा है और वह कोई वाच्यार्थ की अपेक्षा से अलक्षित क्रम से प्रकाशित होता है और कोई संलक्ष्य क्रम से। रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता रूप आस्वाद प्रधान ध्वनि को 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि कहते हैं। यह रसादिरूप अर्थ वाच्य के साथ ही सा प्रतीत होता है और वह प्रधान रूप से प्रतीत होने पर ध्वनि की आत्मा होता है।[२]

---

१. असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः।। — ध्व० २/२

२. रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येनावभासते। स चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा।।
— ध्व० कारिका ३ की व्याख्या।

रस प्रक्रिया — ''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'' यह भरतमुनि का सूत्र है। इसका आशय यह है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के संयोग से परिपुष्ट होकर रत्यदि स्थायिभाव आस्वादावस्थापन्न होकर रस कहलाते हैं। भरतमुनि का यह मूल सूत्र बहुत सीधा लगता है परन्तु यह बहुत विवादाग्रस्त रहा है। इसकी अनेक आचार्यों ने अनेक प्रकार से व्याख्या की है। 'काव्यप्रकाश' में मम्मटाचार्य ने उनमें से १— भट्टलोल्लट, २— श्रीशङ्कुक, ३— भट्टनायक, अभिनवगुप्ताचार्य के चार मतों का उल्लेख किया है। [१]

नाट्यरस — १. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद, श्रीशंकुक का 'अनुमितिवाद', भट्टनायक का 'भुक्तिवाद', अभिनवगुप्ताचार्य का 'अभिव्यक्तिवाद'। यह सब मत नाट्यरस से सम्बन्धित है। इन सभी आचार्यों ने रस—सम्बन्धी अपने मन्तव्य का विस्तार से वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी छोटे—छोटे मत हैं जिनका उल्लेख लोचनकार ने बहुत संक्षेप में इस प्रकार से किया है—

''अन्ये तु शुद्धं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचितु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संयोगम्, एके अनुकार्यम्, केचन सकलमेव

---

१. विभावा अनुभावास्तत कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।। काव्य प्रकाश ४/२८

समुदायं रसमाहुः।''

नाट्यरस शब्द का प्रयोग भरतमुनि ने किया है। ऊपर के व्याख्याताओं ने नाट्यरस शब्द की व्युत्पत्ति भी अपने—अपने सिद्धान्त के अनुसार अलग—अलग ढंग से की है।

काव्यरस — काव्यरस में नाटक के समान आवलम्बन और उद्दीपन विभाव दृष्टिगोचर नहीं होते अपितु काव्यशब्दों से बुद्धिस्थ होते हैं। काव्य में विभावादि उपस्थापक लोकधर्मी नाट्य के स्थान पर स्वाभावोक्ति और नाट्यधर्मी नाट्य के स्थान पर वक्रोक्ति को माना है। इनसे विभावादि की उपस्थिति हो जाने पर आगे रस की प्रक्रिया प्रायः समान ही है।

भाव — असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनिभेद में रसों के बाद स्थान भावों का है। देवादिविषयक अर्थात् देवता, गुरु, राजा, आदिविषयक रति और प्रधान रूप से व्यञ्जित व्यभिचारिभाव इन दोनों को 'भाव' कहते हैं — ''रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः'' देवादिविषयक रति भाव के निम्नलिखित उदाहरण हो सकते हैं —

१. ''कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते।।''

इनमें शिवविषयक रति (प्रेम, श्रद्धा) प्रदर्शित की है। अतएव यह 'भाव' है।

व्यभिचारिभाव की स्थिति में उदय, स्थिति और अपाय ये तीन दशाएँ हो सकती हैं। इनमें से उदयवाली स्थिति को भावोदय नाम से और अपायवाली स्थिति को भावप्रशम नाम से जाना जाता है। स्थितिवाली दशा के भी तीन प्रकार हो सकते हैं— अकेले एक भाव की स्थिति, अथवा दो भावों की स्थिति, अथवा दो से अधिक भावों की स्थिति । इनमें से दो भावों की स्थिति को 'भावसन्धि' और दो से अधिक भावों की स्थिति को 'भावशबलता' कहा जाता है। भावों की ये सभी अवस्थाएँ आस्वादयोग्य होने से 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रसश्रेणी में आती हैं।

रसाभास और भावाभास – 'अनौचित्यप्रवर्तिता रसा रसाभासाः' और 'अनौचित्यप्रवर्तिता भावा भावाभासः' – अनुचित रूप से वर्णित रस 'रसाभास' और अनुचित रूप से वर्णित भाव 'भावाभास' कहलाते हैं। जैसे— पशु—पक्षियों के श्रृंगार का वर्णन अथवा गुरू आदि पूज्य पुरुषों के सम्बन्ध में हास्य का प्रयोग 'रसाभास' के अन्तर्गत होता है।

रसवदलङ्कार से भिन्न ध्वनि का विषय – प्राधान्येन प्रतीत होने वाले रस आदि ध्वनि के आत्मा हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि रसादि की प्रतीति कहीं—कहीं अङ्ग अर्थात् अप्रधान रूप में भी होती है। जहाँ रस किसी अन्य के अङ्गरूप में

होते हैं वहाँ रसादि ध्वनिरूप न होकर रसवदलङ्कार कहलाते हैं। रसवदलङ्कार चार प्रकार के होते हैं– एक रसवत्, दूसरा प्रेय, तीसरा उर्जस्वि और चौथा भेद समाहित नाम से जाना जाता है। इस किसी अन्य रसादि का अङ्ग हो जाय तो रसवद् भाव अन्य का अङ्ग प्रतीत हो तो प्रेय, रसाभास या भावाभास किसी के अङ्ग हों तो उर्जस्वि और भावशान्त्यादि किसी के अङ्ग हों तो समाहित नाम का अलंकार कहा जाता है। [१]

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के भेद – उस (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) रसध्वनि के अङ्गों (अलंकारादि) के जो अनेक भेद हैं, और (स्वयं रसादि) के जो स्वगत भेद हैं, उनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध (संस्सृष्टि सङ्करादि, प्रस्तारविधी से, विस्तारादि) कल्पना करने पर उनकी गणना अनन्त हो जायेगी। [२]

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का प्रधानतया व्यङ्ग्य रसादि रूप जो एक स्वरूप कहा गया है, उसके अङ्गभूत अर्थ तथा शब्द के आश्रित (उपमादि तथा अनुप्रासादि) अलंकारों के जो अपरिमित भेद हैं, और उस प्रधानभूत (रसादि ध्वनिरूप) अर्थ के जो स्वगत भेद रस, भाव, तदाभास, तत्प्रशम रूप विभावानुभाव व्यभिचारिभाव प्रतिपादन सहित अनन्त और अपने आश्रम (स्त्री, पुरुष आदि

---

१. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।

काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः।। ध्व० २/५

२. तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदा स्वगताश्च ये।

तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने। – ध्व २/१२

प्रकृति के भेद) के कारण नि:सीम जो अवान्तर विशेष (भेदोपभेद) हैं, उनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध (संस्सृष्टि, सङ्कर या प्रस्तारादि) कल्पना करने पर, उनमें से किसी एक भी रस के भेदों की गणना कर सकना सम्भव नहीं है, फिर सबकी तो बात ही क्या है।

जैसे— प्रधानभूत शृंगार रस के, प्रारम्भ में दो भेद होते हैं, सम्भोग शृंगार और विप्रलम्भ शृंगार। उनमें भी सम्भोग के परस्पर प्रेम दर्शन, सूरत और उद्यानादि भेद हैं। इसी प्रकार विप्रलम्भ के भी अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास और विप्रलम्भादि (शार्पादनिमित्तक वियोगादि) भेद हैं। उनमें से प्रत्येक भेद के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव के भेद हैं और उन विभावादि के भी देश, काल, आश्रय, अवस्था, आदि से भेद हैं। इस प्रकार स्वगत भेदों के कारण उस एक शृंगार का परिमाण करना असम्भव है, फिर उनके अंगों के भेदोपभेद कल्पना की तो बात ही क्या है। उन अलंकारादि के प्रभेद रसादि के प्रभेदों के साथ सम्बन्ध कल्पना करने पर अनन्त ही हो जाने हैं।

रसादि ध्वनि का आत्मभूत शृंगार रस शब्द और अर्थ द्वारा तात्पर्य रूप से प्रकाशित होता है, उनमें यमकादि (यहाँ आदि शब्द सादृश्यार्थक है) यमक सदृश दुष्कर शब्दश्लेष या सभङ्गश्लेष आदि का शक्ति होने पर भी प्रयोग करना प्रमादित्व का सूचक है। प्रमादित्व से यह सूचित किया है कि काकतालीयन्याय से कभी किसी एक यमकादि की रचना हो जाने पर भी,

अन्य अलंकारों के समान बाहुल्येन रसाङ्गरूप में उनकी रचना नहीं करनी चाहिये।

ध्वनि में अलंकार प्रयोग – रसादि ध्वनि में, जिस अलंकार की रचना रस से आक्षिप्त अर्थात् रस के ध्यान से विभावादि की रचना करते हुये स्वयं निष्पन्न) रूप में बिना किसी अन्य प्रयत्न के हो सके, ध्वनि में वही अलंकार मान्य है और वही मुख्य रूप से रस के अङ्ग होते हैं।

इसलिये न केवल शृंगार अथवा विप्रलम्भ में अपितु वीर तथा अद्‌भुतादि रस में भी प्रयत्नपूर्वक गढ़कर रखे गये यमकादि अलंकार रसविघ्नकारी होते हैं और जहाँ कहीं यमकादि अलंकार रस सहित दिखायी देते हैं वहाँ यमकादि ही अङ्गी होते हैं, रसादि उनके अङ्ग हैं। वहाँ रसध्वनि नहीं होती है। रसाभास में यमकादि को अङ्गरूप मानने में भी कोई हानि नहीं है, परन्तु जहाँ रस प्रधानतया व्यङ्ग्य हो, वहाँ तो पृथक्प्रयत्नसाध्य होने से यमकादि अङ्ग नहीं हो सकते।

आगे ध्वनिकार ध्वनि के आत्मभूत शृंगार रस के अभिव्यञ्जक अलंकारवर्ग का निरूपण करते हुये कहते हैं कि – अलंकार्य प्रधानभूत शृंगारादि का

चारूत्वहेतु होने से अपने 'अलंकार' नाम को चरितार्थ करता है। सोच—समझकर उचित रूप में प्रयुक्त किया गया रूपकादि अलंकार वर्ग वास्तविक अलंकारता को प्राप्त होता है। [१]

वाह्य आभूषणों के समान प्रधानभूत रस के चारूत्वहेतु (रूपकादि ही) अलंकार कहे जाते हैं। जितने भी रूपकादि वाच्यालंकार प्राचीन आचार्यों ने कहा है उन सबको यदि विचारपूर्वक काव्य में निबद्ध किया जाय तो वे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य प्रधानभूत सभी रसों के चारूत्वहेतु अलंकार होते है।

इस रूपकादि अर्थालंकार के काव्यान्तर्गत प्रयोग में इन बातो पर विचार करना आवश्यक है— १— रूपकादि की विवक्षा सदैव रस को प्रधान मानकर रस परत्वेन ही हो। २— प्रधान रूप से किसी भी दशा में नहीं। ३— उचित समय पर उसक ग्रहण और ४— त्याग होना चाहिये, ५— आदि से अन्त तक अत्यन्त निर्वाह की इच्छा नहीं करनी चाहिये। ६— यदि कहीं अनायास आघन्त निर्वाह हो जाय तो निर्वाह हो जाने पर भी वह अङ्गरूप में ही हो यह बात सावधानी से फिर देख लेनी चाहिये।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेद — (विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनि का अनुस्वान सदृश क्रम से प्रतीत होने वाला जो दूसरा स्वरूप है, वह भी शब्दशक्तिमूल और

---

१. ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः।

रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्।। ध्व० २/१७

अर्थशक्तिमूल होने से दो प्रकार का होता है।[१] घण्टा बजाकर शब्द करने के बाद भी ध्वनि क्रमशः कुछ देर तक सुनाई देती रहती है। इसी को अनुस्वान कहते हैं। इस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में वाच्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का क्रम अनुस्वान के समान स्पष्ट प्रतीत होता है। वाच्यार्थ की प्रतीति के बाद अनुस्वान के समान ही वहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि — जहॉ शब्द से अनुक्त (साक्षातसङ्केतित होने पर भी) आक्षेप सामर्थ्य से ही शब्दशक्ति द्वारा अलंकार की प्रतीति होती है, वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि है,[२] और जहॉ दो वस्तु शब्दशक्ति से प्रकाशित हों वहॉ श्लेष अलंकार होता है। जैसे—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो

यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।

इस श्लोक में श्लेषवश शिव और विष्णु दोनों अर्थों की प्रतीति होती

---

१. क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽनुस्वानसन्निभः।

शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः।। ध्व० २/२०

२. आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।

यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः।। ध्व० २/२१

है। (विष्णुपक्ष में) 'येन अभवेन' जिन अजन्मा विष्णुने 'अन: ध्वस्तं' बालपन में 'अन:' अर्थात् शकट अर्थात् बच्चों की गाड़ी अथवा शकटासुर को नष्ट कर डाला, 'पुरा' अमृत हरण के समय 'बलिजित्' बलि राजा को अथवा बलवान् दैत्यों को जीतने वाले शरीर को (मोहिनीरूप) स्त्री बना डाला, और जो मर्यादातिक्रमण करने वाले 'कालिय नाग' को मारने वाले हैं, जिनमें 'रव' वेद का लय होता है, अथवा 'रवे शब्दे लयो यस्य' 'अकारो विष्णु:' अकाररूप शब्द में जिसका लय होता है, जिन्होंने 'अगं' गोवर्धन पर्वत और 'गां' वाराहामिहिर अवतार में पृथ्वी को धारण किया। जो 'शशिनं मथ्नातीति शशिमथ्' राहु, उसके सिर को काटने वाले हैं, इसीलिये देवता लोग जिनका 'शशिमच्छिरोहर' यह प्रशंसनीय नाम लेते हैं। अन्धक अर्थात् यादवों का द्वारिका में क्षय निवास स्थान बनाने वाले अथवा मौसल पर्व में यादवों का नाश कराने वाले और सब मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले 'माधव' विष्णु तुम्हारी रक्षा करें।

(शिवपक्ष में) 'ध्वस्त: मनोभाव: कामो येन स ध्वस्तमनोभव:'

कामदेव का नाश करने वाले जिन शंकर ने 'पुरा' त्रिपुरदाह के समय 'बलिजित्काय:' विष्णु के शरीर को 'अस्त्रीकृत:' बाण बनाया, जो महा भयानक भुजङ्गों सर्पों का हार और वलय के रूप में धारण करते हैं, जो गङ्गा को धारण किये हुये हैं, जिनका मस्तक शशि चन्द्रमा से युक्त है और देवता

लोग जिनका प्रशंसनीय 'हर' नाम लेते हैं, अन्धकासुर का विनाश करने वाले के 'उमाधव' पार्वती के पति शंकर सदैव तुम्हारी रक्षा करें।

(यहॉ दोनों अर्थ वस्तुरूप हैं, और अभिधा शक्ति से प्रकाशित हो रहे हैं इसलिये यहॉ श्लेषालङ्कार है और यह शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि नहीं है) शब्दशक्त्युथ ध्वनि वही होता है जहाँ शब्दशक्ति के बल से आक्षिप्त वाच्यार्थ से भिन्न, व्यङ्ग्यरूप से ही दूसरे अलंकार की प्रतीति होती है।

शब्दशक्त्युत्थध्वनि का उदाहरण –

उन्नत: प्रोलसद्धार कालागुरूमलीमस:।

पयोधरभरस्तन्व्या: कं न चक्रेऽभिलाषिणम्।।

काले अगर के समान कृष्णवर्ण, विद्युद्धारा अथवा जलधारा से सुशोभित, (वर्षा ऋतु के उमड़ते हुये) मेघसमूह ने (दूसरा अर्थ) काले अगर (के लेप) से कृष्णवर्ण, हारो से अलंकृत (उस कामिनी) के उन्नत उरोजों के समान किस (पथिक या युवक) को उस (कामिनी से मिलन के लिये) उत्कण्ठित नहीं कर दिया।

इसमें द्वितीय अर्थ की प्रतीति शब्दशक्ति से वाच्य न होकर, सामर्थ्याक्षिप्त रूप में व्यञ्जना द्वारा होती है, इसलिये श्लेषालङ्कार के नहीं अपितु शब्दशक्तिमूल

ध्वनि का है।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि — जहाँ अर्थ शब्द व्यापार के बिना अपने सामर्थ्य से अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है वह अर्थशक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि है। जैसे—

> एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखि।
>
> लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।।

'यहाँ एवंवादिनी देवर्षै' में (लीलाकमल के पत्रों की गणना) द्वारा सामर्थ्य से आक्षिप्त (लज्जारूप) व्यभिचारिभाव द्वारा रस की प्रतीति होती है। इसलिये यह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप ध्वनि का उदाहरण है और जहाँ शब्दव्यापार की सहायता से अर्थ, दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है, वह इस अर्थशक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय नहीं होता है। वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य हो जाता है।

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद — अन्य वस्तु (अलंकार या वस्तु) का अभिव्यञ्जक अर्थ भी स्वतःसम्भवी तथा प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध (इसमें कविप्रोढ़ोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध ये दो भेद सम्मिलित हैं) इस प्रकार से दो प्रकार

---

१. प्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः।

अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः।। ध्व० २/२४

का (वास्तव में तीन प्रकार का) होता है।[१]

ये तीन प्रकार के व्यञ्जक अर्थ, वस्तु तथा अलंकार भेद से दो प्रकार का होकर ३x२ = ६ व्यञ्जक अर्थ, और इसी प्रकार ६ व्यङ्ग्यार्थ, कुल मिलाकर (६+६) = १२ अर्थशक्त्युत्थ के भेद हो जाते हैं। इन १२ भेदों का वर्णन नवीन आचार्यों ने अधिक स्पष्ट रूप से किया है।

कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध का उदाहरण —

(सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।

अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्रलानानङ्गस्य शरान्।। इतिच्छया)

(कामदेव का सखा) बसन्त मास युवतिजनों को लक्ष्य बनाने वाले मुखों (अग्रभाग—फलभाग) से युक्त नवपल्लवों से पत्र (बाण के पिछले भागों में लगे पंखों से) युक्त, सहकार प्रभृति कामदेव के बाणों का निर्माण करता है (परन्तु) अभी प्रहारार्थ देता नहीं है।

यहाँ बसन्त बाण बनानेवाला है, कामदेव उनका प्रयोग करने वाला धन्वी या योद्धा है, आम्रमञ्जरी आदि बाण हैं और युवतियाँ उनका लक्ष्य हैं इत्यादि अर्थ कविप्रोढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से मदनउन्मथन का प्रारम्भ और उत्तरोत्तर उसका बिजृम्भणरूप वस्तु व्यङ्ग्य है। इस प्रकार यह कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध

वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य का उदाहरण है।

स्वतः सम्भवी – (कवि और कविनिबद्ध की कल्पना लोक से) बाहर भी उचित रूप से जिनके अस्तित्व की सम्भावना हो, केवल कवि या कविनिबद्ध की उक्तिमात्र से ही सिद्ध न होता हो वह स्वतःसम्भवी कहलाता है।

जैसे– एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।

लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।।

यहाँ श्लोकोक्त वस्तु केवल कविकल्पनासिद्ध नहीं है, अपितु वास्तव में लोक में भी उसका अस्तित्व सम्भव है, अतएव वह स्वतःसम्भवी है। इस प्रकार ध्वनिकार स्वतःसम्भवी, कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध और कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध को उदाहरण सहित सिद्ध करते हैं। यह सभी उदाहरण वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य का है, आगे अलंकार से अलंकार व्यङ्ग्य का निरूपण करते हैं।

अर्थशक्त्युत्थ अलंकार ध्वनि – जहाँ वाच्यालंकार से भिन्न दूसरा अलंकार अर्थ सामर्थ्य से व्यङ्ग्य रूप से प्रतीत होता है वह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि का अलंकार से अलंकारव्यङ्ग्य रूप का दूसरा भेद है।[१]

---

१. वाच्यालंकारव्यतिरिक्तो यत्रान्योऽलंकारोऽर्थसामर्थ्यात् प्रतीयमानोऽवभासते सोऽर्थशक्त्युत्थवो नामानुस्वानरूपव्यङ्ग्योऽन्यो ध्वनिः।। – ध्व० २/२५ वें श्लोक की व्याख्या।

अलंकारध्वनि में अलंकार की प्रधानता – (एक वाच्य अलंकार से दूसरे) अलंकारान्तर की प्रतीति होने पर भी जहॉ वाच्य (अलंकार) तत्पर नहीं (प्रतियमान अलंकार को प्रधानतया बोधित नहीं करता है) वह ध्वनि का विषय नहीं माना जा सकता है।

(दीपक) आदि दूसरे अलंकारों में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (उपमादि) दूसरे अलंकार की प्रतीति होने पर भी जहाँ वाच्य (दीपकादि अलंकार) की व्यङ्ग्य (उपमादि) प्रतिपादन प्रवणता से ही चारूत्व की प्रतीति नहीं होती है वह ध्वनि का मार्ग नहीं है। इसी से दीपकादि अलंकार में उपमा के गम्यमान होने पर भी उस उपमा के प्राधान्य से चारूत्व की व्यवस्था न होने से वहॉ उपमा अलंकार में ध्वनि व्यवहार नहीं होता है और जहाँ वाच्यालंकार की स्थिति व्यङ्ग्य (अलंकार) परतया ही हो वहाँ व्यङ्ग्य (अलंकार) के अनुसार ही व्यवहार करना उचित है।

जैसे –

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्यान्निद्रामप्यस्य

पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।

सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुययातस्त्वय्यायाते

वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः।।

इसको लक्ष्मी प्राप्त है फिर यह मुझे वह पूर्वानुभूत मन्थन दु:ख क्यो देगा। इस समय आलस्यरहित मन के कारण इसकी पहले जैसी निद्रा की भी कोई सम्भावना नहीं जान पड़ती। सारे द्वीपों के राजा ता इसके अनुचर हो उठे हैं, फिर यह दुबारा सेतुबन्धन क्यों करेगा। हे राजन्, तुम्हारे (समुद्रतट पर) आने से मानो इस प्रकार के सन्देहों के धारण करने से ही समुद्र कॉप रहा है।

यहाँ समुद्र के स्वाभाविक या चन्द्रादयादिनिमित्तक जलचाञ्चल्यरूप कम्प में, विशाल सेना समेत समुद्र तट पर आये हुये राजा को देखकर मथन या सेतुबन्धादि सन्देहनिमित्तक भयोद्भूत वेपथुरूप कम्पतया उत्प्रेक्षा की गई है। इसीलिये यहाँ सन्देह और उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभावसङ्करालंकार (कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध) वाच्यालंकार है, उससे राजा की वासुदेवरूपता अर्थात् राजा में वासुदेव का आरोपमूलक रूपक अलंकार व्यङ्ग्य हैं इस प्रकार यह कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यङ्ग्य रूपकध्वनि का उदाहरण है।

इसी प्रकार ध्वनिकार कविनिबद्धप्रौढ़ोक्तिसिद्ध और स्वत: सम्भवी अलंकार से अलंकारव्यङ्ग्य का उदाहरण देकर व्याख्या करते हैं। ध्वनिकार के अनुसार व्यङ्ग्य अलंकार के अनुसार नामकरण अथवा व्यवहार होना चाहिये इसको स्पष्ट करने के लिये अलंकार ध्वनि के ११ उदाहरणों को देकर विस्तारपूर्वक इस विषय की विवेचना की है।

अलंकार ध्वनि का प्रायोजन — अलंकारध्वनि के मार्ग का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करके अब उसकी सार्थकता सिद्ध करने के लिये यह कहते है— (कटक कुण्डलस्थानीय) जिन अलंकारों की वाच्यावस्था में शरीररूपताप्राप्ति भी निश्चित नहीं है, व्यङ्ग्यरूपता को प्राप्तकर वे अलंकार भी न केवल साधारण शरीर को अपितु परं चारूत्व को प्राप्त हो जाते हैं।

अलंकारों की ध्वन्यङ्गता व्यञ्जकरूप और व्यङ्ग्यरूप दोनों प्रकार से हो सकती है। उनमें से, यहॉ प्रकाशवश व्यङ्ग्यता ही समझनी चाहिये। अलंकारों के व्यङ्ग्य होने पर भी (व्यङ्ग्य) की प्राधान्य विवक्षा होने पर ही ध्वनि में अन्तर्भाव हो सकता है, नहीं तो अप्रधान होने की दशा में गुणीभूतव्यङ्ग्य माना जायेगा। अलंकारों के प्रधानरूप से व्यङ्ग्य होने में भी दो प्रकार हैं। १— वस्तुमात्र से, २— अलंकार मात्र से। वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य की विवक्षा उनके चारूत्व के उत्कर्ष के आधार पर होती है।

इस प्रकार ध्वनिकार ने यह स्पष्ट किया है कि वस्तु और अलंकार दोनों व्यङ्ग्य और व्यञ्जक दोनों हो सकते हैं। इसीलिये यहॉ १— वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य, २— वस्तु से अलंकार, ३— अलंकार से वस्तु, अलंकार से अलंकारव्यङ्ग्य ये चार भेद होकर (३x४) = १२ भेद अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के हो जाते हैं।

ध्वनि के पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य भेद — अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल ध्वनि) और उससे भिन्न (विवक्षितान्यपरवाच्य का भेद) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि पद और वाक्य से प्रकाश्य होता है। यहाँ व्यञ्जक की दृष्टि से ध्वनिविभाग किया गया है।

१. अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलध्वनि) के अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य भेद में पदव्यङ्ग्य का उदाहरण —

धृति: क्षमा दया शौचं कारूण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोह: सप्तैता: समिध: श्रिय:।।

इस श्लोक में आये 'सप्तैता: समिध: श्रिय:' इस चरण में 'समिध:' शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य है। 'समिध:' शब्द मुख्यत: यज्ञ की समिधाओं के लिये प्रयुक्त होता है। ये समिधाएँ यज्ञीय अग्नि को बढ़ानेवाली—प्रज्जवलित करने वाली होती हैं। 'तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि' इत्यादि मन्त्रप्रतिपादित वर्धनसामर्थ्य से यहाँ 'समिध:' शब्द लक्ष्मी की अन्यानपेक्ष बृद्धिहेतुता को बोधित करता है। अतएव यहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य है।

२. (अविवक्षितवाच्य लक्षणामूलध्वनि) के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य नामक भेद का उदाहरण —

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्।'

हे प्रिये वैदेहि! अपने जीवन के लोभी राम ने प्रेम के अनुरूप कार्य नहीं किया। इस श्लोक में 'राम' यह पद साहसैकरसत्व (सत्यसम्बन्धत्व) आदि व्यङ्ग्य (विशिष्ट रामरूप अर्थान्तर में सङ्क्रमितवाच्य रूप से (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य) व्यञ्जक है।

३. अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलध्वनि) के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य भेद में वाक्यप्रकाशता का उदाहरण—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।

जो अन्य सब प्राणियों की रात्रि है उसमें संयमी (तत्त्वज्ञानी जितेन्द्रिय पुरुष) जागता रहता है और जहाँ सब प्राणी जागते हैं, वह तत्त्वज्ञानी मुनि की रात्रि है।

इस वाक्य से निशा (पद) और जागरण (बोधक 'जागर्ति' तथा 'जाग्रति' शब्द) का वह कोई अर्थ (मुख्यार्थ) विवक्षित नहीं है तो फिर क्या विवक्षित है? (तत्त्वज्ञानी) मुनि की तत्त्वज्ञाननिष्ठता तथा अतत्त्वपराङ्मुखता प्रतिपादित है। इसलिये अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य (निशा तथा जागर्ति, जाग्रति आदि अनेक शब्दरूप वाच्य की व्यञ्जकता है।)

४. अविवक्षितान्यपरवाच्य (लक्षणामूलध्वनि) के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य भेद की पदप्रकाशता का उदाहरण—

विषमयित: केषामपि केषामपि यात्यमृतनिर्माण:।

केषामपि विषामृतमय: केषामप्यविषामृत: काल:।। इतिच्छाया

किन्हीं का समय विषमय अर्थात् दु:खमय, किन्हीं का अमृतरूप अर्थात् सुखमय, किन्हीं का विष और अमृतमय अर्थात् सुखदु:खमिश्रित और किन्हीं का न विष और न अमृतमय अर्थात सुखदु:खरहित व्यतीत होता है।

इस वाक्य में विष और अमृत शब्द दु:ख और सुखरूप अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य रूप में व्यवहार में आये हैं। इसलिये अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का ही व्यञ्जकत्व है।

यहाँ अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूलध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य रूप भेदों के पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य भेद से कुल चार भेद हुये। इसी प्रकार से विवक्षितपरवाच्य (अभिधामूलध्वनि) के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेद का भी पद और वाक्यप्रकाशता भेद से वर्णन किया गया है।

१. विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलध्वनि) के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के शब्दशक्त्युत्थव भेद में वाक्यप्रकाशता का उदाहरण—

बाणभट्टकृत 'हर्षचरित' में (सेनापति) सिंहनाद के वाक्यों में —

इस अर्थात् तुम्हारे पिता प्रभाकरवर्धन और ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन की मृत्युरूप महाप्रलय के हो जाने पर पृथिवी अर्थात् राज्यभार को धारण करने के लिये अब तुम 'शेष' (शेषनाग) हो।

यह वाक्य (इस महाप्रलय के हो जाने पर पृथिवी के धारण करने के लिये अकेले शेषनाग के समान) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (शेषनाग) अर्थान्तर को स्वशक्ति से स्पष्ट ही प्रकाशित करता है।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के चार भेद — जो असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (अभिधामूलध्वनि का भेद है) यह १— वर्णपदादि, २— वाक्य, ३— संघटना और ४— प्रबन्ध में भी प्रकाशित होता है।[१]

लोचनकार के अनुसार ध्वनि के ३५ भेदों की गणना -

लोचनकार ने द्वितीय उद्योत की ३१वीं कारिका की 'एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य' इस मूल ग्रन्थ की व्याख्या करते हुये ध्वनि के ३५ भेदों की गणना इस प्रकार की है —

---

१. यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु।

वाक्ये सङ्घटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते।। ध्व० ३/२

''अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ मूलभेदौ। आद्यस्य द्वौ भेदौ, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यश्च। द्वितीयश्च द्वौ भेदौ, अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च। प्रथमोऽनन्तरभेद: द्वितीयो द्विविध:, शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। पश्चिमस्त्रिविध: कविप्रौढ़ोक्तिकृतशरीर:, कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिकृतशरीर:, स्वत:सम्भवी च। ते च प्रत्येकं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरूक्त भेदनयेन चतुर्धेति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूल:। आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडश मुख्यभेदा:। ते च पदवाक्य प्रकाशत्वेन प्रत्येकं द्विविधा वक्ष्यन्ते। अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्णपदवाक्यसंघटना प्रबन्धप्रकाश्यत्वेन पञ्चत्रिशद् भेद:।''

अर्थात् ध्वनि के अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ये दो मूल भेद हैं। उनमें से प्रथम अर्थात अविवक्षितवाच्य के अर्थान्तरसङ्क्रमित और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये दो भेद होते हैं। द्वितीय अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ये दो भेद होते हैं। इनमें से प्रथम असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (रसादिध्वनि) के अनन्त भेद हैं। इसलिये वह सब मिलाकर एक ही माना जाता है। दूसरे अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के शक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक ये दो भेद होते हैं। इनमें से अन्तिम अर्थात् अर्थशक्त्युत्थव ध्वनि के स्वत:सम्भवी, कविप्रोढ़ोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्ध वक्तृप्रोढ़ोक्तिसिद्ध ये तीन भेद होते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक, व्यङ्ग्य और व्यञ्जक दोनों में उक्त भेद (वस्तु और

अलंकार) नीति से चार भेद होकर कुल १२ प्रकार का अर्थशक्त्युत्थव ध्वनि होता है। इन १२ भेदों में पहले चार भेद अर्थात् अविवक्षितवाच्य के दो भेद, तीसरा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और चौथा शब्दशक्त्युत्थव भेद मिलाकर १२ और ४ = १६ भेद हुये। यह सब पदगत और वाक्यगत होने से दो प्रकार के होकर ३२ भेद हुये। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य पद और वाक्य के अतिरिक्त वर्ण, संघटना, तथा प्रबन्ध में भी प्रकाश्य होने से उसके तीन भेद और जुड़कर ध्वनि के कुल ३५ भेद हो जाते हैं।

आचार्य मम्मट के अनुसार ५१ ध्वनि भेद — ध्वनिकार ने ध्वनि के कुल ३५ भेद माने हैं, वहाँ मम्मट ने ५१ शुद्ध भेदों की गणना की है जो इस प्रकार है — अविवक्षितवाच्य में अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये दो भेद और विवक्षितान्यपरवाच्य में शब्दशक्त्युत्थव के वस्तु, अलंकार रूप दो भेद, अर्थशक्त्युत्थव के बारह भेद उभयशक्त्युत्थव का एक भेद और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का एक भेद, इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य के २+१२+१+१=१६, तथा अविवक्षितवाच्य के दो, कुल मिलाकर अठारह भेद हुये।[१] इस प्रकार इन १८ भेदों में उभयशक्त्युत्थव भेद केवल पद में होने से एक, और शेष सत्रह भेद पद तथा वाक्य में होने से ३४ और अर्थशक्त्युत्थव

---

१. 'शब्दार्थोभयभूरेकः, भेदा अष्टादशास्य तत्।

रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते।। ।। काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास ४१।।

के १२ भेद प्रबन्धगत भी होने से १२ और मिलाकर १+३४+१२=४७ और रसादि असंलक्ष्यक्रम के १— पदकदेश, २— रचना, ३—वर्ण, तथा अपि शब्द से ४— प्रबन्धगत चार भेद और मिलाकर ४७+४ = ५१ भेद होते हैं।[१]

---

१. वाक्ये द्व्युत्थः, पदेऽप्यन्ये, प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः।। काव्य प्र० चतुर्थ उल्लास ४२।।

पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः। भेदास्तदेकपञ्चाशत्। ।। काव्य प्र० चतुर्थ उल्लास ४३।।

गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य

आनन्दवर्धन ''ध्वन्यालोक'' के तृतीय उद्योत में गुणीभूत—व्यङ्ग्य काव्य का इस प्रकार लक्षण करते हैं —

''प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।

यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारूत्वं स्यात् प्रकर्षवत्।।'' — ध्व० ३/३४

इसका आशय है कि जहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर वाच्यार्थ के साथ अन्वित हो तथा व्यङ्ग्य के साथ अन्वय के कारण वाच्यचारूत्व अधिक प्रकृष्ट हो जाय, वह गुणीभूतव्यङ्ग्य नाम का दूसरा काव्य प्रकार है।

''गुणीभूतव्यङ्ग्य'' शब्द में गुण के अनन्तर प्रयुक्त ''अभूत्तद्भावे च्विः'' को देखते हुए यह स्पष्ट है कि — यह वह काव्य है, जिसमें चारूत्वाधायकत्व के नाते प्रधानभूत व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से व्यक्त होकर, लौटकर वाच्यार्थ का ही उपस्कारक होने के कारण गौण हो जाता हैं। काव्य की आत्मा होने के कारण ''ध्वनि ही प्रधान'' है, किन्तु समासोक्ति आदि के स्थल ऐसे देखे जाते हैं, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण, वाच्यचारूत्व की वृद्धि करने के कारण गौण अतश्च अप्रधान हो जाता है।

यद्यपि ध्वनिकार ने वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ के समप्रधान्य के स्थलों पर

गुणीभूतव्यङ्ग्यता का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है, परन्तु उनके लक्षण में आये हुए "चारूत्वप्रकर्षवत्" पद की व्याख्या करते हुए दीधितिकार ने कहा है –

"वाच्यस्य चारूत्वप्रकर्ष इति चारूत्वसाम्यस्याप्युपलक्षणम्।"

दीधित व्याख्या पृ० ४९३

जिससे स्पष्ट होता है कि ध्वनिकार को भी समप्राधान्य स्थलों पर गुणीभूत व्यङ्ग्यता स्वीकार्य थी। यह तथ्य आचार्य मम्मट के गुणीभूतव्यङ्ग्य–काव्य के लक्षण से स्पष्ट हो जाता है–

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्य व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।
अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि। – का०प्र०प्र०उ०पृ० २१

वाच्य से व्यङ्ग्य के अनतिशायी होने पर गुणीभूत–व्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य होता है। वाच्य से व्यङ्ग्य के अनतिशायी होने का तात्पर्य है – व्यङ्ग्य का न्यून होना एवं तुल्य होना।[१] इस प्रकार इन दोनों अवस्थाओं में भी व्यङ्ग्य का गुणीभाव हो जाता है।

---

१. व्यङ्ग्यस्य वाच्यादनतिशयश्च न्यूनत्वेन तुल्यत्वेन चेति द्विविधः। – का०प्र०बा०बो० टीका पृ० २१

ध्वनिकार ने काव्य के दो भेद माने हैं –

(१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य।

दोनों काव्य–भेदों के विभाजन का आधार प्रतीयमानार्थ की प्रधानता एवं अप्रधानता ही है। ध्वनिकार दोनों काव्य–भेदों को समान रूप से चारूतायुक्त तथा उत्कृष्ट कोटि के काव्य मानते हैं। ध्वनिकारिका में प्रयुक्त ''उपसर्जनीकृतस्वार्थौ'' पद ध्वनि के स्वरूप का निर्णायक होने के साथ ही, गुणीभूतव्यङ्ग्य से ध्वनि काव्य का व्यावर्त्तक भी है।

''जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के साथ अन्वित होने के कारण वाच्यार्थ ही अधिक चारूत्वयुक्त, अतः प्रधान होता है।[१] वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है। ध्वनिकाव्य का गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य से अन्तर स्पष्ट करते हुए ध्वनिकार ने कहा है –

''सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद्व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम्''।। ध्व० २/३३

गुणीभतव्यङ्ग्य काव्य के स्थल – ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य भेद के क्षेत्र के विषय में स्पष्ट निर्देश किया है कि जहाँ भी व्यङ्ग्य अप्रध ाान होकर, अन्य वाक्यार्थ का उत्कर्षाधायक बने तथा वाच्य प्रधान हो, वह सम्पूर्ण

---

१. तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्व .... प्रकल्प्येत्। ध्व०तृ०उ०पृ० १२३

स्थल गुणीभूतव्यङ्ग्य का है।

आनन्दवर्धन के अनुसार व्यङ्ग्य तीन प्रकार का होता है :—

१. वस्तुव्यङ्ग्य, २. अलंकार व्यङ्ग्य, ३. रसादि व्यङ्ग्य।

उपर्युक्त तीनों प्रकार अप्रधान या उपस्कारक होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य का रूप धारण करते हैं। तीनों प्रकार के व्यङ्ग्य विभिन्न प्रकार से प्रधानभूत, अन्य वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होकर गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य—भेद के क्षेत्र को विस्तृत एवं सुशोभित करते हैं।

१. ***वस्तुरूप व्यङ्ग्य की गुणीभूतता*** : ध्वनिकार के अनुसार इसके दो प्रमुख प्रकार होते हैं — (क) तिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यङ्ग्य, (ब) अतिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यङ्ग्य।

(क) तिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यङ्ग्य :— वस्तुरूप व्यङ्ग्य के प्रथम प्रकार का तिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यङ्ग्य उस स्थल पर होता है, "जहाँ वाचक शब्दों से निकलने वाले स्वार्थ के परस्पर विरोध के कारण वाच्य तिरस्कृत हो जाता है।" इस प्रकार के तिरस्कृतवाच्य शब्दों से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ को ही उपस्कृत करता है तथा व्यङ्ग्यार्थ के उपस्कार के कारण वाच्यार्थ का विरोध समाप्त हो जाता है और उसी की प्रधानता, व्यङ्ग्यार्थ की अप्रधानता रहती है। इस प्रकार वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ को नियन्त्रित करके चारूत्वस्थानी होता है। जैसा कि ध्वनिकार के "लावण्यसिन्धुरपैरव हि केयमत्र" उदाहरण से स्पष्ट है कि पहले "शशि उत्पल" आदि वाचक शब्दों का अर्थ तिरस्कृत हो जाता है, क्योंकि

प्रस्तुत पद्य में ''संध्या एवं दिवस के समागम न होने का वर्णन वाच्य'' है। वाचक शब्दों के अर्थों में परस्पर विरोध न होने के कारण वाच्यार्थ ''अतिरस्कृत'' है। इस अतिरस्कृतवाच्य से नायक—नायिका के व्यवहार की व्यञ्जना होती है, परन्तु नायक—नायिका का वर्णन रूप व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर, ''संध्या—दिवस वर्णन रूप वाच्यार्थ'' को चमत्कारयुक्त बनाता है। अत: सौन्दर्य का पर्यवसान वाच्यार्थ में हो रहा है।

संध्या के पक्ष में ''अनुराग'' शब्द का अर्थ है ''लालिमायुक्त'' तथा ''अनुराग'' का नायक—नायिका पक्ष में ''अभिलाषयुक्त'' अर्थ है। ''अभिलाष'' में अनुराग शब्द का अर्थ, निरूढ़ा लक्षणा से किया गया है। अत: वाच्य तिरस्कृत नहीं होता है।[१] अतिरस्कृतवाच्य शब्दों से व्यञ्जित नायक—नायिका वर्णन रूप व्यङ्ग्यार्थ सन्ध्या—दिवस वर्णन रूप वाच्यार्थ को उपस्कृत करने के कारण अप्रधान हो जाता है तथा वाच्यार्थ ही अधिक सौन्दर्ययुक्त होने के कारण प्रधान है। अत: यहाँ वस्तु—व्यङ्ग्य, वाच्य के सौन्दर्य का पोषक होकर, स्वयं रसोन्मुख होने में असमर्थ होने के कारण गुणीभूत हो गया है।

इस प्रकार वस्तुमात्र—गुणीभूतव्यङ्ग्य के तिरस्कृतवाच्य एवं अतिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यङ्ग्य, दोनों भेदों में वाच्य की प्रधानता होती है, परन्तु रस—ध्वनि में

---

१. अनुरागशब्दस्य चाभिलाषे तदुपरक्तत्वलक्षणतया लावण्यशब्दवत् प्रवृत्तिरित्यभिप्रायेणातिरस्कृतवाच्यत्वमुक्तम। — ध्व०लो०तृ०उ०पृ० १२९

उसकी भी गुणीभूतता हो जाती है।[१]

गुणीभूतव्यङ्ग्य के समस्त प्रकारों का अन्ततः रस—ध्वनि में पर्यवसान होने के कारण, प्रधान—वाच्यार्थ रसध्वनि के प्रति गौण हो जाता है।

अलंकार व्यङ्ग्य की गुणीभूतता — ध्वनिकार व्यङ्ग्य अलंकार के गुणीभाव के स्थल में भी गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य भेद मानते हैं।[२] व्यङ्ग्य अलंकार के प्रधान होने पर अलंकारध्वनि एवं अप्रधान रहने पर गुणीभूतता होती है।[३] ध्वनिकार के अनुसार अलंकार व्यञ्जना दो प्रकार से होती है — वस्तु से अलंकार व्यञ्जना एवं अलंकार से अलंकार व्यञ्जना।[४] यदि वस्तुमात्र द्वारा अलंकार व्यक्त होते हैं, तो वहाँ निश्चित रूप से अलंकारध्वनि होती है, कदापि गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं होते हैं क्योंकि वस्तु की अपेक्षा अलंकार सर्वदा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। अतः जहाँ काव्य में वस्तु से अलंकार व्यङ्ग्य होता है, वहाँ व्यङ्ग्य अलंकार काव्य का प्रवृत्तनिमित्त होता है।[५] व्यङ्ग्य अलंकार के प्रधान होने पर "अलंकारध

---

१. यद्यपि वाच्यस्य प्राधान्यं तथापि रसध्वनौ तस्यापि।

गुणतेति सर्वस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य प्रकारे मन्तव्यम्।। — ध्व०तृ०उ०पृ० १२६

२ व्यङ्ग्यालंकारस्य गुणीभावो दीपकादिविषयः। — ध्व०तृ०उ०पृ० १२९

३. अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।

तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः।। — ध्व० २/२७

४. कदाचिद्वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते कदाचिदलंकारेण।' ध्व०द्वि०उ०पृ० ६३६

५. व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा।

वनि'' एवं अप्रधान होने पर वह गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं होता है, वरन् उसकी काव्य—संज्ञा ही नहीं होती है एवं ''वाक्यमात्र'' होता है।[१] अलंकार से अलंकार व्यङ्ग्य होने पर वाच्य एवं व्यङ्ग्य अलंकारों में से जिसमें चारूत्व का पर्यवसान होता है, उसी की प्रधानता होती है, क्योंकि प्रधानता मानने में एकमात्र हेतु ''चारूत्व का उत्कर्ष'' है।[२] यदि व्यङ्ग्यालंकार की अपेक्षा वाच्यालंकार में चारूत्व का उत्कर्ष हो अतश्च उसकी प्रधानता हो तो व्यङ्ग्यालंकार की गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है।[३]

यही अलंकार—ध्वनि एवं अलंकार की गुणीभूतव्यङ्ग्यता में अन्तर है कि ''जहाँ व्यङ्ग्य अलंकार की प्रधानता हो, वाच्यालंकार व्यङ्ग्यालंकार का सौन्दर्य—पोषक हो, चारुत्व का पर्यवसान व्यङ्ग्य अलंकार में हो वहाँ अलंकार—ध्वनि होती है।''[४] इसके विपरीत जहाँ ''व्यङ्ग्य अलंकार'' की प्रतीति तो हो रही हो, परन्तु वाच्यालंकार गौण होकर व्यङ्ग्यालंकार के चारूत्व हेतु रूप में अवभासित न हो वरन् वाच्यालंकार में सौन्दर्य का पर्यवसान होने के कारण उसी

---

१. यस्मात्तत्र .... स्यात्। – ध्व०द्वि०उ०पृ० ६३६

२. चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविविक्षा इति। – ध्व०द्वि०पृ० ६३७

३. तद्प्राधान्ये तु वाच्यालंकार एव प्रधानमीति गुणीभूतव्यङ्ग्यतेति भावः। – ध्व०द्वि०उ०लो०पृ० ६३८

४. अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे पुनः ध्वन्यङ्गता भवेत्।
चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते।। – ध्व० २/३०

की प्रधानता हो एवं व्यङ्ग्यालंकार के द्वारा ही वाच्यालंकार में सौन्दर्य उत्पन्न हो रहा हो तो वहाँ अलंकार "गुणीभूतव्यङ्ग्य" की कोटि में आता है।[१]

ध्वनिकार के अनुसार — "समस्त वाच्यालंकारों में चारूता व्यङ्ग्यांश के अनुगमन के कारण ही उत्पन्न होती है।[२] वह व्यङ्ग्य वस्तुरूप, अलंकाररूप एवं रसादिरूप हो सकता है। अत: व्यङ्ग्य ही वाच्यालंकारों का मर्मभूत सारतत्त्व है। जिन अलंकारों में गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्पर्श नहीं होता है, उन अलंकारों में जातीयता तो आ जाती है, परन्तु मूलतत्त्व "रमणीयता" नहीं आती है।[३] यदि चारूताविहीन केवल लक्षण युक्त काव्यों को ही अलंकार की संज्ञा दी जाय तो —— "यथा गौस्तथा गवय:" तथा "खलेवाली यूप" (लो०तृ०उ०पृ० १५७) इत्यादि स्थानों पर भी उपमा तथा रूपक अलंकार मानने पड़ेंगे, परन्तु वे अलंकार न होकर अलंकार का चित्रमात्र होते हैं, क्यांकि ध्वनिकार की अलंकार—विषयक धारणा ही यह है कि जिन अलंकारों में व्यङ्ग्यांश के स्पर्श के कारण रमणीयता की वृद्धि होती है, वे ही अलंकार वास्तव में अलंकार कहे जा सकते हैं।

ध्वनिकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उनका स्वत: कल्पित मत नहीं है वरन् लक्ष्य ग्रन्थों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट होती है कि "सर्वत्र जिन

---

१. अलंङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।

तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मत:।। — ध्व० २/२७

२. वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं .... निरीक्ष्यते।। —— ध्व० ३/३७

३. तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति .... त्वलङ्कारमात्रतैवेति। — ध्व०तृ०उ०पृ० १४२

वाच्यालंकारों में व्यङ्ग्यांश वाच्य का अनुगमत हो जाता है उन अलंकारों में अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है। अलंकाररहित होने पर भी वाच्यप्रधान काव्य व्यङ्ग्यांश के स्पर्श के कारण उच्चकोटि के काव्य बन जाते हैं। [१]

यद्यपि वाच्यालंकारों में वाच्य की प्रधानता होती है। अत: व्यङ्ग्य गुणीभूत हो जाता है। अन्य वाच्यालंकार जिनमें अन्य कोई व्यङ्ग्य नहीं रहता तथा वाच्य ही अधिक उत्कृष्ट रहता है, वे तुच्छ कोटि के काव्य बन जाते हैं।

ध्वनिकार के अनुसार रुपक, दीपक, समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास इत्यादि चारूयुक्त सभी अलंकारों में ''चारुता व्यङ्ग्यांश हेतुक'' होती है। चारुतारहित उपमादि अलंकार, अलंकार—पद भाजन ही नहीं बन पाते हैं क्योंकि अलंकारों का सामान्य लक्षण ही चारूता है, और यह चारुत्व चूँकि व्यङ्ग्यार्थ निमित्तक होता है, अत: व्यङ्ग्यार्थ उपस्कारक होने के कारण वाच्यालंकारों की अपेक्षा गुणीभूत हो जाता है। [२] इस प्रकार उपमादि अलंकारों में यह चारुता गुणीभूतव्यङ्ग्य द्वारा ही सम्पन्न की जाती है; परन्तु व्यङ्ग्य में स्वत: ही चारुता सम्पादन एवं रसाभिव्यक्ति द्वारा अपूर्व आनन्दानुभूति प्रदान करने की योग्यता होती है, व्यङ्ग्य के कारण ही कोई काव्य सहृदयात्मक हो सकता है, रसानुभूति कराना ही व्यङ्ग्य

---

१. एवं निरलङ्कारेषुत्तानतायां .... इति दर्शयति।। ध्व०लो०तृ०उ०पृ० १४०

२. न चातिशयोक्तिवक्रोक्त्युपमादीनां सामान्यरुपत्वं चारुताहीनानाम् उपपद्यते।

चारुता तु चैतदायत्तेत्येतदेव गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं सामान्य लक्षणम्। ध्व०लो०तृ०उ०पृ० १६०

का प्राण है। अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य में किसी अन्य तत्व द्वारा चारुता का सम्पादन नहीं किया जाता है। [1] इसी कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य सभी वाच्यालंकारों का रमणीयताधिष्ठापक होने के कारण, सभी अलंकार गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के अन्तर्गत आते हैं —

"तदेवं व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रुपकदायोलंकाराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः"। ध्व०तृ०उ०पृ० १५६

इस प्रकार वाच्यार्थ का पोषक होने के कारण, उपकारकत्वात् व्यङ्ग्य का अप्रधान होना ही गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का लक्षण है"। [2]

चूँकि यह व्यङ्ग्यार्थ वस्तु, अलंकार एवं रस—भेद से त्रिविध होता है। इसलिये गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में तीनों की ही वाच्य अलंकार के प्रति गुणीभूतता अभीष्ट है। यद्यपि रुपक आदि अलंकारों में जो व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत होता है, वह अलंकार रुप ही होता है। [3]

---

१. व्यङ्ग्यस्य च चारुत्वं रसाभिव्यक्तियोग्यतात्मकम्, रसस्य स्वात्मनैव विश्रान्तिधाम्नान्दात्मकत्वमिति नानवस्था काचिदिति तात्पर्यम्। — ध्व०लो०तृ०उ०पृ० १६०

२. "प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्"।। ध्व०लो०तृ०उ०पृ० १६०

३. मैवम्, वस्तुमात्रं वा रसो वा व्यङ्ग्यं सद्गुणीभूतं भविष्यति। ध्व०लो०तृ०उ०पृ० १६४

अलंकारों में जैसे — रुपक अलंकार में व्यङ्ग्य उपमालंकार के कारण सौन्दर्य उत्पन्न होता है परन्तु उपमा अर्थात् 'सादृश्य' प्रधान नहीं होता है, क्योंकि वह वाच्य रुपक में चारुता सम्पादन करता है। यहाँ चारुता का पर्यवसान ''व्यङ्ग्य सादृश्य'' में न होकर, ''उपमानो—पमेयभाव के अभेद वर्णन'' में होता है।

अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य ''चारुतायुक्त'' सभी वाच्यालंकारों का सामान्य लक्षण होता है। उसी को भली—भाँति समझकर सभी अलंकारों को लक्षित एवं संग्रहीत किया जा सकता है। [१] क्योंकि गुणीभूतव्यङ्ग्य के अभाव में अलंकारों में चारुता उत्पन्न होती है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य सभी अलंकारों का ''सामान्य लक्षण'' है। ध्वनिकार का यह तात्पर्य है कि अलंकार, वाणी के विकल्प है, और वाणी के विकल्प अनन्त प्रकार के हैं। इसलिए हर अलंकार का ''विशेष लक्षण'' किसी एक व्यक्ति के द्वारा प्रस्तुत किया जाना असंभव है। अलंकारों के नये—नये भेद तो युग युगान्तर तक लोगों के मस्तिष्क में जन्म लेते रहेंगे, इसलिए अलंकारों को सीमाबद्ध करना उसी तरह असंभव है, जिस तरह शब्दों का प्रतिपद—पाठ। अतएव अलंकारों का सामान्य लक्षण प्रस्तुत करना अधिक सुरक्षित एवं सुकर उपाय है [२] और अलंकारों

---

१. गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च तेषां तु सामान्यलक्षणरहिते प्रतिपाद पाठनेव शब्दा न शक्यन्ते तत्त्वतो निर्ज्ञातुम आन्त्यात्। अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः।। ध्व०तृ०उ०पृ० १५६

२. एकैकस्य स्वरुपविशेषकथनेन तु सामान्यलक्षण रहिते प्रतिपाद पाठनेव शब्दा न शक्यन्ते तत्त्वतो निर्ज्ञातुम्, आन्त्यात्। अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः।। ध्व०तृ०उ०पृ० १५६

का सामान्य लक्षण है, ''व्यङ्ग्य की गुणीभूतता'' अर्थात् जहाँ भी व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत हो वह अलंकार का क्षेत्र है। अत: ध्वनिकार के अनुसार ''सम्पूर्ण अलंकार—प्रपञ्च गुणीभूतव्यङ्ग्य का मार्ग है''।

इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य का क्षेत्र निर्धारित करने के अनन्तर ध्वनिकार ने विभिन्न अलंकारों में व्यङ्ग्यांश के अनुगमन के आण्धार पर अलंकारों का वर्गीकरण करके उनका स्वरूप स्पष्ट किया है। अलंकारों में व्यङ्ग्य रूप अर्थ की अनेक अवस्थाएं हो सकती हैं।

कुछ अलंकारों में कोई अलंकार—विशेष, सामान्य रूप से गर्भित रहता है जैसे — ''उपमा'', कोई एक अलंकार सभी अलंकारों में सामान्य रूप से प्रविष्ट होकर रमणीयता का सम्पादन करता है, जैसे ''समासोक्ति'' आदि कुछ अलंकार परस्पर गर्भित रहते हैं जैसे — ''दीपक में उपमा एवं मालोपमा में दीपक'', किसी अलंकार विशेष में कोई अलंकार—विशेष व्यङ्ग्य रहता है, जैसे — ''व्याजस्तुति में प्रयोऽलङ्कार'' इत्यादि। इस प्रकार अलंकारों में व्यङ्ग्य अर्थ अनेक प्रकार से वाच्य की अपेक्षा गुणीभूत हो जाता है।

ध्वनिकार के अनुसार इसके छः प्रमुख भेद होते हैं —

(क) सर्वालंकार गर्भित अलंकार

(ख) सादृश्यमूलक अलंकार

(ग) वस्तुव्यञ्जनामूलक अलंकार

(घ) विशेषालंकार गर्भित अलंकार

(ङ) सामान्य अलंकार गर्भित अलंकार

(च) परस्पर गर्भित अलंकार

(क) <u>*सर्वालंकार गर्भित अलंकार*</u> :—

व्यङ्ग्यालंकारों में अतिशयोक्ति अलंकार सबसे महत्वपूर्ण है, जिसका क्षेत्र सर्वाधिक व्यापक है। अन्य अलंकार भी दूसरे अलंकारों में व्यङ्ग्य रुप में चारुता वृद्धि करते हैं, परन्तु अतिशयोक्ति में यह विलक्षणता है कि यह सभी अलंकारों में व्यङ्ग्य रुप में रहकर उनका पोषण करती है, अतिशयोक्ति जिस अलंकार का स्पर्श करती है उस काव्य में अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है। अन्य अलंकार, विशेष अलंकारों में ही प्रविष्ट होते है, सभी में नहीं, सही अतिशयोक्ति की अन्य अलंकारों से विलक्षणता है, इसी कारण अतिशयोक्ति का पहले विवेचन किया गया है। [१]

सभी अलंकारों में अतिशयोक्ति गर्भता मानने का कारण यह भी है कि आचार्य भामह ने, जो कि प्रथम अलंकारवादी आचार्य हैं कहा है कि अतिशयोक्ति के बिना कोई अलंकार हो ही नहीं सकता है। भामह ने अतिशयोक्ति को सभी ''अलंकारों का सामान्य रुप'' कहा है। अतिशयोक्ति का सामान्य अर्थ है —

---

१. ''सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना''।। काव्यालंकार २/८५

''अतिशयता'' अर्थात् ''लोकोत्तर उक्ति''। सारे अलंकार ''भंगी–भणिति'' अथवा ''विचित्रोक्ति रुप'' होने के कारण लोकोत्तर रुप होते हैं। इसी लाकोत्तरता के कारण अतिशयोक्ति रुप होते हैं, इसलिए अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों का सामान्य लक्षण स्वीकार किया गया है। [१]

अतिशयोक्ति के योग रमणीयता उत्पन्न होती है, परन्तु अनुचित रुप से गुम्फित होने पर काव्य–शोभा नष्ट हो जाती है। वस्तु–व्यञ्जना, अलंकार व्यञ्जना का ध्यान करके, औचित्य के अनुसार प्रतिपादन करने पर काव्य उत्कृष्ट कोटि का हो जाता है। [२] जब यह अतिशयोक्ति अन्य अलंकारों में गौणरुप में व्यङ्ग्य अतश्च अप्रधान रुप में अनुप्रविष्ट होकर वाच्य की उपस्कारक रमणीयता कारक तत्त्व होती है, तब गुणीभूतव्यङ्ग्य का रुप धारण करती है।

(ख) ***सादृश्यमूलक अलंकार*** :–

सभी सादृश्यमूलक अलंकारों जैसे – उपमा, रुपक, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि में गुणीभतव्ङ्ग्यता का प्रतिपादन करते हुए ध्वनिकार कहते हैं, कि सभी सादृश्यमूलक अलंकारों में गम्यमान धर्मों के कारण उपलब्ध, जो सादृश्य

---

१. लोकेत्तरैव चातिशय:, तेनातिशयोक्तित: सर्वालंकारसामान्यम्। ध्व०लो०तृ०उ०पृ० १४५

२. कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयोचित्येन क्रियमाणा सती काव्येनोत्कर्षभावहेतु।

ध्व०लो०तृ०उ०पृ० १३९

होता है, वही शोभातिशयशाली होता है। उसी के संस्पर्श के कारण वाच्य में चारुत्व एवं अलंकारत्व की प्राप्ति होती है। अतः सभी सादृश्यमूलक अलंकार, व्यङ्ग्य सादृश्य के संस्पर्श के कारण निर्विवाद रुप से गुणीभूतव्यङ्ग्य के विषय होते हैं। [१]

कुछ सादृश्यमूलक अलंकारों का स्वरुप विवेचन करके ध्वनिकार के मत का परीक्षण किया जा सकता है कि ''उनमें व्यङ्ग्य सादृश्य'' के कारण ही चारुत्व उत्पन्न होता है।

(अ) ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के क्षेत्र में उपमालंकार का भी उल्लेख किया है कि ''उसमें व्यङ्ग्य—सादृश्य'' ही शोभातिशयशाली होता है, जिसके कारण वाच्य रुप उपमा में चारुत्व उत्पन्न होता है। उपमालंकार में ''उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनमें साधर्म्य का वर्णन किया जाता है''। [२]

व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ही उपमान एवं उपमेय के साधर्म्य वर्णन रुप ''वाच्यभूता उपमा'' में चारुत्व उत्पन्न होता है।

---

१. येषु चालंकारेषु सादृश्यमुखेन तत्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमा—तुल्ययोगितानिर्दशनादिषु तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदैव शोभातिशयशाली भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषयाः।

ध्व०तृ०उ०पृ० १४९

२. ''साधर्म्यमुपमा भेदे''। का०प्र०द०उ०पृ० ४४३

"प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्तेर्वैचित्रयम्, वैचित्र्यं चालङ्कारः तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः। न खलु व्यङ्ग्यसंस्परामर्शादत्र चारुताप्रतीतिः अपितु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव"।।

काव्य प्रकाश द०उ०पृ० ४४८

आचार्य मम्मट की प्रस्तुत पंक्तियों से भ्रमित होकर कुछ लोग कहते हैं कि मम्मट उपमा के स्थलों में गुणीभूतव्यङ्ग्य का निषेध कर रहे हैं। लेकिन उनकी दृष्टि में यहाँ पर गुणीभूतव्यङ्ग्यता का निषेध कैसे किया जा सकता है? जब वे स्वयं गुणीभूत व्यङ्ग्यार्थ से सस्पर्श को ही चारुत्व का हेतु मान रहे हैं –

"प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्तेवैचित्रयम्"।।

"तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः"।।

मम्मट की पंक्ति का आशय केवल इतना है कि "गुणीभूतव्यङ्ग्य" के रहने पर भी प्रस्तुत स्थल को गुणीभूतव्यङ्ग्य के नाम से नहीं व्यवहृत किया जाता है। "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" न्याय से इस स्थल को "उपमा" के नाम से व्यवहृत किया जाता है, क्योंकि यहाँ वाच्यभूता उपमा का प्राधान्य है। यह

गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

इस प्रकार उपमा के स्थल में ''व्यङ्ग्य सादृश्य'' के कारण वाच्यभूता उपमा में चारुत्व उत्पन्न हो जाता है, एवं व्यङ्ग्य सादृश्य गुणीभूत हो जाता है।

(ब) अनन्वय अलंकार में स्वयं उपमेय को ही उसका उपमान प्रतिपादित करते हुए [१] ''उपमानान्तर के व्यवच्छेद'' में चमत्कार हुआ करता है। इसलिए वहाँ भी व्यङ्गय साम्य, वाच्यभूत अनन्वय के प्रति गुणीभूत होता हुआ वाच्य में ही चारुत्वाधान करता है।

(स) उपमेयोपमा अलंकार में ''व्यङ्ग्य—सादृश्य'' के कारण उपमान का उपमेय रुप में तथा उपमेय का उपमान रुप में वर्णन होता है। [२] व्यङ्ग्य सादृश्य वाच्यभूता उपमेयोपमा के प्रति गुणीभूत रहता है।

(द) संदेह अलंकार में भी व्यङ्ग्य—सादृश्य के कारण ही उपमेय में उपमान का संशय किया जाता है, [३] जो कि सादृश्य के अभाव में असम्भव है।

---

१. उपमानोपमेयत्वे एकस्यैववाक्यगे। अनन्वयः। — का०प्र० १०/१३४

२. विपर्यासः उपमेयोपमा तयोः — का०प्र० १०/१३५ सू०

३. ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः। — का०प्र० १०/१३७ सू०

व्यङ्ग्य—सादृश्य, वाच्य रुप संशय का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो जाता है।

(य) अपह्नुति अलंकार में व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ''उपमेय का निषेध करके, उपमान की स्थापना की जाती है''।[१] रमणीयता का पर्यवसान वाच्य रुप ''उपमेय को असत्य सिद्ध करके उपमान की सत्यरुपेण'' स्थापना अपह्नव में होता है, तथा व्यङ्ग्यरूप सादृश्य सौन्दर्यवर्धक एवं उपस्कारक अवश्य होता है, परन्तु गौण होता है। अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य की कोटि में आता है।

(र) प्रतिवस्तूपमा अलंकार में ''एक ही साधारण—धर्म दो वाक्य में दो बार भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है।''[२]

इसमें व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ही दोनों वाक्यों में ''एक धर्म का कथन'' सम्भव होता है, परन्तु सौन्दर्य का पर्यवसान ''एक धर्म के भिन्न शब्दों द्वारा कथन रुप'' वाच्य में होता है, एवं औपम्य गम्य होता है।

(ल) रुपक अलंकार में व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ही ''उपमा एवं उपमेय का

---

१. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः। का०प्र० १०/१४५ सू०

२. प्रतिवस्तूपमा तु सा सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः। का०प्र० १०/१५३ सू०

अभेद'' रुप में वर्णन किया जाता है।[१] परन्तु रमणीयता सादृश्य रुप उपमा में न होकर ''अभेद वर्णनरुप'' रुपक अलंकार में रहती है।

(व) उत्प्रेक्षा अलंकार में व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण उपमेय की उपमान के साथ सम्भावना की जाती है।[२] व्यङ्ग्य सादृश्य के अभाव में यह सम्भावना रुप वाच्य सौन्दर्य सम्भव नहीं होता है। परन्तु व्यङ्ग्य वाच्योपस्कारक होकर गौण अतश्च अप्रधान होता है।

(श) निदर्शना अलंकार मे व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ''दो वस्तुओं का असम्भव सम्बन्ध प्रकृत की अप्रकृत के साथ उपमा का परिकल्पक उपमा में पर्यवसित होता है।[३] यद्यपि वाक्यार्थो या पदार्थो के उपमानोपमेय भाव का उपमा में पर्यवसान होता है, परन्तु सौन्दर्य व्यङ्ग्य रुप ''सादृश्य'' में न होकर वाच्य रुप ''दृ ष्टान्त'' द्वारा असम्भव वस्तुओं पर परस्पर सम्बन्ध में होता है। अत: उपमा गुणीभूत हो जाती है।

---

१. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः। का०प्र० १०/१३८ सू०

२. सम्भावनामथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। का०प्र० १०/१३६ सू०

३. निर्दशना। अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः। का०प्र० १०/१४८ सू०

(ष) तुल्ययेगिता अलंकार में व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ही या तो केवल अप्रस्तुतों या केवल प्रस्तुतों का एक धर्म के साथ सम्बन्ध सम्भव होता है''।[१] यहॉ उपमा अलंकार व्यङ्ग्य है, वाच्य तुल्ययोगिता है, उपमा का मूलाधार है सादृश्य विधान तथा तुल्ययोगिता में केवल प्रस्तुतों या केवल अप्रस्तुतों का एक धर्म के साथ सम्बन्ध होता है। यहाँ सौन्दर्य का पर्यवसान व्यङ्ग्य उपमा में न होकर वाच्यरुप ''नियत का एक धर्म के साथ सम्बन्ध'' में होता है। इस प्रकार तुल्ययोगिता में गम्य सादृश्य गुणीभूत होता है।

(स) दृष्टान्त अलंकार में व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ही ''उपमान की उपमेय के साथ, उपमान का विशेषणों की उपमेय के विशेषणो के साथ, साधारण धर्म की साधारण धर्म के साथ समानता दिखाई जाती है''।[२] सादृश्य के अभाव में दो भिन्न साधारण धर्म, उपमान वाक्य एवं उपमेय वाक्य के औपम्य के प्रायोजक नहीं हो सकते हैं, परन्तु वह औपम्य वाच्य—रुप विम्ब—प्रतिविम्ब भाव'' की अपेक्षा गौण होता है।

इसी प्रकार अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों में भी व्यङ्ग्य सादृश्य के कारण ही चारुता की वृद्धि करता है। व्यङ्ग्य सादृश्य वाच्य रुप अलंकार का

---

१. नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता।। का०प्र० १०/१५७ सू०

२. दृष्यन्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिविम्बनाम्।। का०प्र० १०/१५४ सू०

उपस्कारक होता है, परन्तु सौन्दर्य का पर्यवसान वाच्य—रुप अलकार में ही होता है। इस कारण सादृश्यमूलक अलंकार निर्विवाद रुप से गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के भेद होते हैं।

(ग) *वस्तुव्यञ्जनामूलक अलंकार* :—

ध्वनिकार के अनुसार समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों का मूलाधार ही ''वस्तुव्यञ्जना'' है, वस्तुव्यञ्जना के अभाव में इन अलंकारों का स्वरुप ही नहीं सिद्ध हो सकता है तथा ये अलंकार नहीं कहे जा सकते हैं। इन अलंकारों में अत्यन्त अनिवार्य, ''वस्तुव्यञ्जना'' वाच्यार्थ की उपकारक होने के कारण गौण हो जाती है, तथा चारुत्व का पर्यवसान वाच्य में ही होने के कारण ये अलंकार निर्विवाद रुप से गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के विषय होते हैं।[१]

(अ) समासोक्ति अलंकार में श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा प्रस्तुत के व्यवहार का इस रुप में कथन होता है कि अप्रस्तुत के व्यवहार की व्यञ्जना होती है।[२] इस

---

१. समासोक्तयाक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तत्त्वव्यवस्थानाद्गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवादैव। ध्व०तृ०उ०पृ० १४८

२. परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः।। का०प्र० १०/१४७ सू०

प्रकार व्यङ्ग्य ''अप्रस्तुत के व्यवहार की व्यञ्जना ही'' समासोक्ति का प्राण है; जो अन्ततः वाच्य का ही उपस्कारक होता है, क्योंकि विशेष श्लिष्ट न होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ अपर्यवसित, अतः गौण होता है। अतः व्यङ्ग्यार्थ गौण अर्थात् गुणीभूत हो जाता है।

(ब) आक्षेप अलंकार में वाच्यार्थ में विशेष उत्कर्ष प्रकट करने के लिए अभीष्ट कथन का निषेध सा कर दिया जाता है,

१. वक्ष्यमाणविषयक आगे कही जाने वाली बात का पहले से निषेध सा एवं

२. उक्त विषयक पूर्व कथित बात का निषेध, दो प्रकार का होता है।[१]

यहाँ पर ''अशक्यवक्तव्यत्व'' अथवा ''अतिप्रसिद्धत्व'' रुप व्यङ्ग्यार्थ के कारण ही अभीष्ट कथन का निषेध किया जाता है।[२] इस प्रकार शब्दतः प्रतिपादित 'प्रतिबेध रुप'' जो वाच्यार्थ है, वह व्यङ्ग्य विशेष का आपेक्ष करता हुआ ही चमत्कारकारक बन पाता है। अतः चारुत्वोत्कर्षाधायक होने के कारण यहाँ भी ''आक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत'' हो जाता है तथा 'निषेध रुप वाच्यार्थ''

---

१. निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।

वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः।। का०प्र० १०/१६० सू०

२. अशक्यवक्तव्यत्वमतिप्रसिद्धत्वं वा विशेषं वक्तुं निषेधो निषेध इव यः।

का०प्र०द०उ०पृ० ४९७

उपकार्यत्वात् प्रधान हो जाता है।[१]

(स) विशेषोक्ति अलंकार में ''कर्मोत्पत्ति के समस्त कारणों के उपस्थित रहने पर भी, कार्य का कथन नहीं होता है''। विशेषोक्ति के अनुक्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता एवं अचिन्त्यनिमित्ता तीनों ही भेद गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल नहीं बन सकते हैं। ''उक्तनिमित्ता'' नामक भेद में तो कार्याभाव का निमित्त उक्त होने के कारण व्यङ्ग्य का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध हो सकता है''। अचिन्त्यनिमित्ता में ''वह व्यङ्ग्य निमित्त, अचिन्त्य हो जाता है अर्थात् निमित्त अत्यन्त गुप्त होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति ही नहीं होती है''। जब व्यङ्ग्य निमित्त का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध होगा तो उसकी गुणीभूतता के आधार पर इन स्थलों को गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल कैसे कहा जायेगा?[२] अत: ध्वनिकार की दृष्टि में केवल ''अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति'' ही गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है। यहाँ कारणों के सद्भाव में ही कार्य के अभाव का व्यङ्ग्य निमित्त अनुक्त रहता

---

१. आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाधिक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव जायते। तथा हि—तत्र शब्दोपारुढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरुपो य आक्षेप: स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम्। चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययो: प्राधान्यविवक्षा।

२. इयंचाचिन्त्यनिमित्तेति नास्यां व्यङ्ग्स्य सद्भाव:। उक्त निमित्तायामपि वस्तुस्वभावमात्रेत्व पर्यवसानमिति तत्रापि न व्यङ्ग्यसद्भावशङ्का।

ध्व०लो०प्र०उ०पृ० १९९

हुआ, वाच्य में चारुता का उत्कर्ष करता है, और इस प्रकार वह वाच्य का उपस्कारक होते हुए गुणीभूत हो जाता है। जैसे कि प्रस्तुत उदाहरण में —

"आहूतोऽपि सहार्यरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रेऽपि।
गन्तुमना अपि पथिक: सङ्कोचं नैव शिथिलयति"।।

प्रस्तुत पद्य में "निद्रासंकोच को शिथिल" करने के समस्त कारणों के उपस्थित होते हुए भी, "निद्रासंकोच का शिथिल होना" रुप कार्य का अभाव है। यहाँ पर "शीतकृत आर्ति" व्यङ्ग्य निमित्त अनुरक्त है।[१] प्रकरण सामर्थ्य से व्यङ्ग्य की प्रतीति मात्र हो रही है, अपितु व्यङ्ग्य निमित्त से उपस्कृत वाच्य रुप विशेषोक्ति ही चारुत्वयुक्त होने के कारण प्रधान है;[२] एवं व्यङ्ग्य, वाच्य का उपस्कारक होते हुए गुणीभूत हो गया है।

(द) अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में "अप्रस्तुत अर्थ के कथन के द्वारा; प्रस्तुत अर्थ का आक्षेप, कर लिया जाता है, इसमें कार्य, कारण सामान्य, विशेष के प्रस्तुत

---

१. व्यङ्ग्स्येति—शीतकृता खल्वार्तिरिति भट्टोद्भट्टः।
तदभिप्रायेणाह—न त्वत्र काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति। ध्व०लो०प्र०उ०पृ० २०२

२. इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य .... न प्राधान्यम्। ध्व०लो०प्र०उ०पृ० १९९

होने पर तद्भिन्न एव तुल्य के प्रस्तुत होने पर उससे भिन्न तुल्य का कथन किया जाता है।'' [१]

अप्रस्तुतप्रशंसा में, अप्रस्तुत कथन का पर्यवसान प्रस्तुत में होता है। अत: जब सामान्य—विशेषभाव एवं निमित्तनैमित्तिक भाव के प्रस्तुत के कथन के द्वारा व्यङ्ग्य रूप प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है, तो वाच्य एवं व्यङ्ग्य रूप दोनों अर्थों का समप्रधान्य होता है। [२] सामान्य—विशेष एवं कारण—कार्य में ''व्यापक—व्याप्य भाव का सम्बन्ध'' होता है। अत: अविनाभाव—सम्बन्ध के कारण सामान्य के बिना विशेष नहीं रह सकता है और विशेष का प्रधानतया कथन होने पर सामान्य की भी प्रधानता होती है। [३] इस प्रकार यहाँ वाच्य एवं व्यङ्ग्य का समप्राधान्य होने के कारण, आक्षिप्त व्यङ्ग्य रूप प्रस्तुत अर्थ गुणीभूतव्यङ्ग्य की कोटि में आता है।

---

१. ''अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया''।। का०प्र० १०/९८

कार्यनिमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।

तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा।। का०प्र०द०उ०पृ० ५०८

२. अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्य विशेषभावान्निमित्तानिमित्तिभावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमाने प्रस्तुतेनाभिसम्बन्ध: तदाभिधीयमानप्रतीयमानयो: समवेव प्रधान्यम्।

ध्व०लो०प्र०उ०प० २२१

३. तदाविशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्रधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्रधान्यम्।

ध्व०लो०प्र०उ०पृ० २२१

(य) पर्यायोक्ति अलंकार में "व्यङ्ग्य रूप अर्थ को व्यङ्ग्य न रखकर भङ्ग्यन्तर द्वारा वाच्य बना दिया जाता है" और इस प्रकार भङ्ग्यन्तर द्वारा व्यङ्ग्य को वाच्य बनाने में ही चारुत्व का पर्यवसान होता है।[1] भङ्ग्यन्तर द्वारा वाच्य बनाये गये व्यङ्ग्य में कोई चारुता नहीं रह जाती है और वह वाच्य का ही उत्कर्षाधायक होता हुआ वाच्य के प्रति गुणीभूत हो जाता है।

कुछ पूर्वपक्षियों का कथन है कि पर्यायोक्त अलंकार में व्यङ्ग्यार्थ की स्पष्ट प्रतीति होती है जो प्रधान होती है, अत: "इसे ध्वनि कहना चाहिए न कि गुणीभूतव्यङ्ग्य"।

उक्त शंका का समाधान करते हुए ध्वनिकार का कथन है कि "यदि पर्यायोक्त के उदाहरण में व्यङ्ग्यार्थ का प्रधान होता है, तो वह ध्वनि का स्थल कहा जा सकता है"।[2] किन्तु भामह ने पर्यायोक्त का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसमें न तो व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य है और न ही वाच्य की गौणता विवक्षित

१.१ पर्यायोक्तं बिना वाच्यवाचकत्वेन यद्वच:।

वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत्प्रतिपादनं तत्पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनात् पर्यायोक्तं।

का०प्र० १०/१७५ सू०

१.२ पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्यना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सषदभिधीयते

तदभिधीयमानमुक्तमेवं सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदम्। ध्व०लो०प्र०उ०पृ० २०३

१.३ शब्देनोच्यते तेन यदेवोच्यते तदैव व्यङ्ग्यम्।

यथा तु व्यङ्ग्य न तथोच्यते। का०प्र०द०उ०पृ० ५११

२. पर्यायोक्तेऽपि यदि प्रधान्येन व्यङ्ग्यत्वम्, तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भाव:।

ध्व०प्र०उ०पृ० २०३

है। अतः इन उदाहरणों में वाच्य के प्रधान होने के कारण व्यङ्ग्य गुणीभूत हो गया है। इसलिए वह गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल हो गया है।[१]

(घ) *विशेषालंकार गर्भित अलंकार* :—

कुछ अलंकारों में कोई विशेष अलंकार व्यङ्ग्य रहता है जैसे — "व्याजस्तुति अलंकार में सर्वदा प्रेयोऽलंकार व्यङ्ग्य रहता है"।[२] व्याजस्तुति में चाटूक्तियों के गर्भित रहने के कारण प्रेयोऽलेकार सर्वदा व्यङ्ग्य रहता है।[३] व्याजस्तुति में जहाँ प्रारम्भ में निन्दा की प्रतीति होती है, वहाँ स्तुति में पर्यवसान होता है एवं जहाँ प्रारम्भ में स्तुति की प्रतीति होती है, वहाँ निन्दा में पर्यवसान होता है।[४]

व्याजस्तुति का भेद, जिसमें प्रारम्भ में "निन्दा" की प्रतीति होती है; उसमें "रतिर्देवादिविषया व्याभिचारी तथाऽञ्जितः भावः प्रोक्तः"[५] सूत्र से भाव के अंग

---

१. न पुनः पर्यायोक्ते .... तत्रोपसर्जनभावेनाविवक्षित्वात्। ध्व०प्र०उ०पृ० २०३

२. तत्र च .... प्रेयोऽलङ्कारगर्भत्वे। ध्व०तृ०उ०पृ० २९४

३. प्रेयोऽलंकारेति। चातुपर्यवसायित्वात्तस्याः। ध्व०लो०तृ०उ०पृ० १५३

४.१. व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रुढ़िरन्यथा। का०प्र० १०/१६८

४.२. यत्र मुखे निन्दा तत्र स्तुतौ पर्यवसानम् यत्र मुखे स्तुतिस्तत्र निन्दायां पर्यवसानमित्यर्थ

— का०प्र० सारबोधिनी टीका पृ० ६७०

५. का०प्र०पृ० १४०, ४/४८ सू०

होने के कारण प्रयोऽलंकार व्यङ्ग्य रहता है, इसी कारण चाटुकारितावश ''स्तुति'' में पर्यवसान होता है, परन्तु वाच्य—रूप व्याजरूपा स्तुति ही अधिक चमत्कारयुक्त होने के कारण प्रधान होती है, प्रेयोऽलंकार उपकारक होने के कारण गुणीभूत हो जाता है।

(ङ) *सामान्य अलंकार गर्भित अलंकार* :—

कुछ अलंकारों का अलंकारमात्रगर्भता का नियम है जैसे— संदेह अलंकार में उपमा गर्भित रहती है।[१] ध्वनिकार के अनुसार ''औपम्य सर्वमान्य'' होता है। इसी कारण सभी सादृश्यमूलक रुपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार संदेह अलंकार में व्यङ्ग्य रहते हैं।[२] संकर अलंकार के तीन भेद होते हैं। इनमें से एकाश्रयानुप्रवेश संकर में एक ही पद में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार स्पष्ट एवं अलग—अलग व्यवस्थित रुप से रहते हैं।[३] अत: इस भेद में व्यङ्ग्य के सद्भाव की शंका ही नहीं की जा सकती है।[४]

संदेह संकर में दो या अधिक अलंकारों की एक साथ सम्भावना होने पर

---

१. केषाञ्चिदलङ्कारमात्रगर्भतायां नियमः यथा सन्देहादीनामुपमागर्भत्वे। — ध्व०तृ०उ०पृ० २९४

२. ''उपमागर्भत्व'' इत्युपमाशब्देन सर्व एव तद्विशेषां रूपकादयः,
अथवौपम्यं सर्वसामान्यमितिते तेन सर्वमाक्षिप्तमेव। ध्व०लो०तृ०उ०पृ० १५३

३. स्फुटमेकत्र.विषये शब्दार्थालङ्कृति द्वयम् व्यवस्थितं च। ध्व०प्र०पृ० ५६३

४. शब्दार्थालङ्काराणामेकत्र भाव इति तत्रापि प्रतीयमानस्य का शंका। ध्व०लो०प्र०उ०पृ० २१५

साधक—बाधक प्रमाणों के अभाव में किसी एक अलंकार की वाच्यता निर्धारित न होने के कारण प्रधानता भी नहीं निर्धारित हो सकती है। दोनों अलंकारों में कोई भी अलंकार वाच्य हो सकता है एवं कोई भी व्यङ्ग्य हो सकता है। अत: दोनों अलंकारों का समप्रधान्य होता है। [१]

अनुग्राह्य—अनुग्राहक अलंकारों में, अनुग्राहक अलंकार, अनुग्राह्य अलंकार का उपस्कारक होते हुए गौण हो जाता है। इसमें व्यङ्ग्य अनुग्राहक अलंकार से उपस्कृत, अनुग्राह्य अलंकार में ही चारुत्व का पर्यवसान होने के कारण, वाच्य रूप अनुग्राह्य अलंकार की प्रधानता होती है। [२] अत: यह व्यङ्ग्य अलंकार का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य की कोटि में आता है। जैसे—

''प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या।

तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभि:।।''

— ध्व०लो०प्र०उ०पृ० २१८

१.१ एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चय:। का०प्र० १०/२०८ सू०

१.२ अलंकारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्ग्ययो: समं प्राधान्यम्। ध्व०लो०प्र०उ०पृ० २१४

२. संकरालंकारेऽपि यदालङ्कारोऽलंकारान्तरच्छायामनुग्रहणाति,

तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम्। — ध्व०प्र०उ०पृ० २१४

प्रस्तुत उदाहरण में व्यङ्ग्य उपमा सन्देह को जन्म देती हुई संदेह की ही पोषिका होने के कारण गुणीभूत हो गई है।[१]

(च) परस्परगर्भित अलंकार :— कभी कुछ अलंकार परस्पर एक—दूसरे में भी गर्भित रहते हैं जैसे— दीपक अलंकार में उपमा व्यङ्ग्य—रूप से गर्भित रहती है एवं उपमा भी कभी—कभी दीपक की छाया को ग्रहण करती है, जैसे — मालोपमा।[२] दीपक अलंकार दो प्रकार का होता है। (१) जहाँ प्रकृत एवं अप्रकृत के क्रियादि रूप धर्म का अनेंक कारकों के साथ सम्बन्ध होता है वहाँ ''क्रियादीपक'' नामक भेद होता है। (२) जहाँ बहुत सी क्रियाओं में एक ही कारक ग्रहण किया जाय अर्थात् अनेक क्रियाओं के साथ एक कारक का सम्बन्ध होता है वहाँ ''कारक दीपक'' नामक भेद होता है।[३]

''कारक दीपक'' में केवल अनेक क्रियाओं का एक साथ वर्णन होने के कारण उपमा व्यङ्ग्य नहीं रहती है। अतः यहाँ उपमा की गुणीभूतता सम्भव नहीं होती है।

---

१. अत्र मृगाङ्गनावलोकनेन .... सन्देहे पर्यवसानम्। — ध्व०लो०प्र०उ०पृ० २१८

२. केषाञ्चिदलंकाराणां परस्परगर्भतापि ..... यथा—मालोपमा। — ध्व०तृ०उ०पृ० २९५

३. ''सुकृदवृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्।।'' — का०प्र० १०/१५५

''क्रियादीपक'' में व्यङ्ग्य उपमा के कारण ही प्रस्तुत एवं अनेक अप्रस्तुतों का एक क्रियादि रूप धर्म के साथ सम्बन्ध सम्भव होता है। यहाँ व्यङ्ग्य उपमा की प्रतीति होने पर भी, वह उपकारत्वात् गौण हो जाती है एवं वाच्य दीपक में ही चारुत्वोत्कर्ष होने के कारण दीपक का प्राधान्य होता है एवं व्यङ्ग्य उपमा गुणीभूतव्यङ्ग्य का विषय होती है। [१]

मालोपमा में दीपक अलंकार व्यङ्ग्य रहता है, क्योंकि एक ही साधारण धर्म के कारण या भिन्न साधारण—धर्म के कारण एक उपमेय की अनेक उपमानो से तुलना की जाती है। [२] मालोपमा में दीपक ''एक क्रिया या धर्म का अनेक कारकों के साथ सम्बन्ध'' व्यङ्ग्य रूप से वर्णित होता है, परन्तु रमणीयता का पर्यवसान वाच्य रूप सादृश्य ''सभी उपमानों में साधारण—धर्म की समानता'' में होने के कारण उपमा प्रधान तथा व्यङ्ग्य दीपक गौण हो जाता है।

इस प्रकार अलंकारों में प्रयुक्त होने वाला व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण अप्रधान होता है, यद्यपि उसका भी अन्ततः पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है, परन्तु वह मुख्य रूप से वाच्यार्थ का संस्कार करने के

---

१. अपह्नुति दीपकयोः तुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव।

— ध्व०प्र०उ० १३वीं कारिका की वृत्ति

२.१. इत्यभिन्ने साधारण धर्मे। इति भिन्ने च तस्मिन् एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा

—का०प्र०द०उ०पृ० ४५९

२.२. दीपस्थानीयेन दीपनाद्दीपकमत्रानुप्रविष्टं प्रतीयमानतया साधारणधर्माभिधानं ह्येतद्धुपमायांस्पष्टेनाभिधाप्रकारेणैव।

—ध्व०लो०तृ०उ०पृ० १५३

कारण ''मध्यम—कक्षा'' में सन्निविष्ट हो जाता है तथा प्रधान रूप से रसानुभूति कराने में समर्थ नहीं होता है। अत: अलंकारों में आने वाला व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूतव्यङ्ग्य की कोटि में आता है। [१]

रसादि व्यङ्ग्य की गुणीभूतता

ध्वनिकार एवं उत्तरवर्ती मम्मत आदि आचार्यों के अनुसार रसभावादि रूप व्यङ्ग्य के अलंकार—रूप अतश्च अप्रधान होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्यता मानी गई है, जो चार रूपों में होती है —

(क) रस के अलंकार रूप होने पर — रसवत् अलकार।

(ख) भाव के अलंकार रूप होने पर — प्रेयोऽलङ्कार।

(ग) रसाभास एवं भावाभास के अलंकार रूप होने पर — ऊर्जस्वि अलंकार।

(घ) भावोदय, भावशान्ति, भावशबलता एवं भावसन्धि के अलंकार—रूप होने पर — समाहित अलंकार होता है। [२]

---

१. यदा व्यङ्ग्योऽर्थ: पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव। ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति। यद्यपि पर्यन्ते रसध्वनिरस्ति, तथापि मध्यमकक्षानिविष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थौ न रसोन्मुखीभवति स्वातन्त्र्येणापि तु वाच्यमेवार्थं संस्कर्तुं ध्वावतीति गुणीभूतव्यङ्ग्यतोक्ता।

— ध्व०लो०प्र०उ०पृ० १८२

२.१. यत्र तु ....विषय:। —ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ४२०

२.२. अनेन भावाद्यलङ्कारा प्रेयस्व्यूर्जस्विसमाहिता गृह्यन्ते। —ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ४२१

रस—भाव रसाभास — भावाभास — भावशान्ति आदि भी जब प्रधानी भूत अन्य किसी वाक्यार्थ के उपस्कारक होने के कारण अंगरूप हो जाते हैं, तब उनकी गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है।[१] जहॉ रसादि अंगरूप होकर उपस्थित होते हैं, वहाँ वे उपमादि अलंकारों के समान अलंकार्यतत्त्व को अलंकृत करके आनन्दास्वादन में कारण बनते हैं। गुणीभूत रसादि प्रधान वाक्यार्थ के सौन्दर्याभिवर्धक होने के कारण अलंकार संज्ञा को प्राप्त करते हैं[२] तथा रसादि की रसवत् अलंकारादि संज्ञा होती है। रसादि की गुणीभूतव्यङ्ग्यता रसवद् अलंकार के लक्षण में स्पष्ट ही है—

''प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्ग तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः।।'' — ध्व० २/५

ध्वनिकार ने इस कारिका में स्पष्ट निर्देश किया है कि जहाँ रसादि—प्रधान न हो वरन् अन्य कोई वाच्यार्थ प्रधान हो और रसादि उसके अंगभूत होकर प्रधान वाक्यार्थ के उपस्कारक होने के कारण अप्रधान हो जाते हैं, वहाँ रसवदलंकार होता है। प्रधान वाक्यार्थ का तात्पर्य है, जिसमें चमत्कार का पर्यवसान हो।[३] जब

---

१. यस्मिन् काव्ये प्रधानतयान्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः। — ध्व०द्वि०उ०पृ० ४०३

२. रसादिरूप व्यङ्ग्यस्य गुणीभावो रसवदलंकारे दर्शितः। — ध्व०तृ०उ०पृ० १२९

३. यदि वा वाक्यार्थत्वं प्रधानत्वम् चमत्कारकारितेत यावत्। — ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ४०५

रसादि अंगभूत होते है, तब वे अंगी के चारूत्ववर्धक होने के कारण अलंकार्य न होकर अलंकार होते हैं क्योंकि जो अंगी होता है वह प्रधान होता है तथा अंग, अलंकरणत्व के कारण अंगभूत अथवा अप्रधान होता है। कोई अंगी या प्रधानीभूत तत्त्व स्वयं अपना अलंकरण करने में समर्थ नहीं होता है क्योंकि अलंकार का अर्थ है चारूत्व हेतु।[१] प्रधान वाक्यार्थ स्वयं अपनी चारूता का हेतुभूत अलंकार नहीं हो सकता है, वह सदैव अलंकार्य ही होता है तथा अंगभूत अन्य अप्रधान तत्त्व ही, अलंकार होता है।

जहाँ रसाभिव्यक्ति हो रही हो, सौन्दर्य या चमत्कार रस के कारण ही उत्पन्न हो रहा हो, परन्तु सौन्दर्य का पर्यवसान अन्ततः अन्य किसी प्रधानीभूत वाक्यार्थ में हो रहा हो, वहाँ उस काव्य के अंगभूत रसादि की रसवत् आदि संज्ञा होती है।[२] रस अलंकार तथा प्रधान वाक्यार्थ अलंकार्य होता है।

लोचनकार ने स्पष्ट रूप से रसध्वनि एवं रसवत् अलंकार की पृथक पृथक सीमाओं का निर्देश किया है। जिस प्रकार समासोक्ति आदि अलंकारों एवं वस्तुध्वनि में अलंकारक – अलंकार्य का स्पष्ट अन्तर होता है, उसी प्रकार

---

१. अलंकारो हि चारूत्वहेतुः प्रसिद्धः। यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वं। न त्वसावात्मैवात्मनश्चारूत्वहेतुः। – ध्व० वृत्ति द्वि०उ०पृ० ४१७

२. यस्मिन् काव्ये प्रधानतयान्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः। – ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ४०३

रसध्वनि एवं रसवदलंकार में स्पष्ट अन्तर होता है।[१] कारिका रूप में दोनों की विषय विविक्तता इस प्रकार निर्दिष्ट की गई है कि जहाँ वाचक शब्द एवं वाच्यार्थ गुणालंकार वृत्ति, रीति आदि काव्य चारुता के समस्त तत्त्व रसादि के अभिव्यञ्जन में सहायक होते हुए उसकी अपेक्षा गौण हो जाते हैं एवं रसादि की प्रधानता होती है, वहाँ रसध्वनि—काव्य होता है।[२] रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि के अंगीरूप में वर्णित होने पर ध्वनि संज्ञा होती है एवं वे काव्य की आत्मा के रूप में स्थित होते हैं।

जब काव्य के समस्त तत्त्व रसादिपरक न हों वरन् रस ही प्रधान भूत वाक्यार्थ का अंग होकर वाक्यार्थ का चारुता—वर्धक, चमत्कार हेतु होता है, चमत्कार का पर्यवसान अन्य प्रधानीभूत वाक्यार्थ में होता है, उस काव्य का सम्बन्धी रस, रसवत् अलंकारादि कहलाता है अर्थात् जो अंगभूत होता है वही अंगी का चमत्कारवर्धक होने के कारण अलंकार होता है।[३] रसवत् अलंकार में रस अप्रधान या अंग होता है, अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य कहलाता है।

---

१. रसवदादिष्वलङ्कारेषु रसादिध्वनेर्नान्तिर्भाव इति सूचयति।
पूर्व समासोक्तयादिषु वस्तुध्वनेर्नान्तिर्भाव इति दर्शितम्। — ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ३८१

२. रस—भाव—तदाभास भावशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।। — ध्व० २/३

३. तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वः न रसादेरलंकारस्य विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः, तस्योपमादयोऽलंकाराः।
यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते स रसादेरलंकारतायाः विषयः।
— ध्व०द्वि०उ०पृ० ४२०

रसवदादि के विषय में भामहादि आचार्यों की भिन्न धारणा

भामह आदि प्राचीन आचार्यों ने रसवदादि को अलंकार माना था। यह ध्वनिकार की मौलिक कल्पना नहीं है, ध्वनिकार उन्हीं की सरणि पर प्रेयस रसवत् को अलंकार संज्ञा प्रदान कर आलंकारिको से विरोध न करके अपनी उदारता का परिचय देते हैं। चूँकि पूर्ववर्ती आलंकारिको ने रसवत्, प्रेयस, उर्जस्वि, समाहित का अलंकार रूप में वर्णन किया है। अत: उनके मत का ध्वनिकार के मत से तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है।

भामह आदि प्राचीन आलंकारिकों की यह धारणा थी कि काव्य—सौन्दर्यवर्धक तत्त्व अलंकार होते हैं।[1] रस से काव्य में अपूर्व चमत्कार एवं शोभा उत्पन्न होती है। अत: उन्होंने रस, भावादि को शुद्ध अलंकार रूप मानते हुए उसकी प्रधानता तथा अप्रधानता को कोई महत्व नहीं दिया है। आलंकारिको के अनुसार जहाँ भी रसादि की प्रतीति होती है, वहाँ रसवदादि अलंकार होते हैं, चाहे रस प्रधान हो या अप्रधान।

भामह के अनुसार जिसमें शृंगारादि रस स्पष्ट रूप से दिखाये गये हो वह रसवत् अलंकार का विषय होता है, अर्थात् शृगारादि रस की प्रतीति ही रसवत्

---

१. सौन्दर्यमलङ्कारः।। — का०सू० १/२

होती है।[१] भामह ने प्रेयस, उर्जस्वि, समाहित आदि अलंकारों का लक्षण नहीं दिया है, केवल उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, [२] किन्तु उन उदाहरणों को देखते हुए स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में इन अलंकारों का स्वरूप वही था, जो दण्डी ने दिया है। लोचनकार अभिनवगुप्त ने स्पष्ट निर्देश किया है कि भामह प्रीति–वर्णन को ही प्रेयोऽलंकार मानते थे– ''भामहेन हि गुरूदेवनृपतिपुत्रविषयप्रीतिवर्णनं प्रेयोऽलंकार इत्युक्तम्।'' — ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ४०४

दण्डी भी भामह के मत का अनुसरण करते हैं, परन्तु वे प्रथम आचार्य हैं, जिसने, इनमें से प्रत्येक अलंकार का लक्षण किया है। दण्डी के अनुसार प्रीतिकार भाव देवादि विषयक रति इत्यादि भाव के कथन को प्रेयोऽलंकार, रति इत्यादि भावों के द्वारा परिपुष्ट, शृंगारादि रसयुक्त सह्रदयानन्द कथन को रसवत्

---

१. रसवद्दर्शितस्पष्टश्रंगारादिरसं यथा।
देवी समागमाद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता।। — काव्यालं० ३/६

२.१ प्रेयो गृहागतां कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः।। —काव्यालं० ३/५

२.२ उर्जस्वि कर्णेन यथा—पार्थाय पुनरागतः।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः।। —काव्यालं० ३/९

२.३ समाहितं राजमित्रे यथा क्षत्रिययोषिताम्।
रामप्रसक्त्यै यान्तीनां पुरोऽदृश्यत नारदः।। —काव्यालं० ३/१०

अलंकार, गर्व अहंकार, आदि व्यभिचारि भावों की स्पष्ट प्रतीति उर्जस्वि अलंकार,[1] तथा किसी कार्य को प्रारम्भ करने के लिये दैवयोग से कार्य का अन्य साधन मिल जाये तो वहाँ समाहित अलंकार होता है। [2]

इस प्रकार दण्डी के रसवत् आदि अलंकारों के लक्षण उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार भी विभावानुभाव के द्वारा आस्वाद्यमान श्रृंगारादि, रसवत् अलंकार तथा भगवद् विषयक प्रेम या रति भाव का कथन ''प्रेयोऽलंकार'' आदि कहलाता है। इस प्रकार भामह एवं दण्डी रस, भावादि की स्पष्ट प्रतीति को ही रसवत आदि अलंकार की संज्ञा देते हैं। ध्वनिकार उनके अनुसरण पर रसवत आदि को अलंकार संज्ञा तो प्रदान की है, परन्तु वे रस की प्रधान प्रतीति को रस—ध्वनि का स्थल मानते हैं एवं रस की अप्रधान प्रतीति को रसवत् अलंकार का स्थल मानते हैं। रस अप्रधान होने पर ही चारूत्व—हेतु होता है, प्रधान होने पर अलंकार्य होता है, अलंकार नहीं हो सकता है। इस प्रकार ध्वनिकार के अनुसार रसवत् अलंकारादि गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य—भेद होते हैं।

उद्‌भट का रसवत् आदि अलंकार विषयक मत भामह, दण्डी से सर्वथा भिन्न है, तथा उसमें ध्वनिकार के मत की कुछ झलक मात्र मिलती है। उद्‌भट,

---

१. प्रेय: प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम्।
उर्जस्वि रूढ़ाहंकारं युक्तोत्कर्ष चतत् त्रयम्।। —काव्यादर्श २/२६५

२. किञ्चिदारभमाणस्य कार्य दैववशात् पुन:।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहु: समाहितम्।। —काव्यादर्श २/२७५

भामह के समान रस को अलंकार मानते हैं परन्तु रसवत् को काव्य—विशेषण मानते हैं।[1] इसी प्रकार ''प्रेयस्'' को अलंकार मानते हैं, उद्भट के मत में ''प्रेय'' का अर्थ है ''भाव'' [2] एवं भावों के सूचक विभावानुभावों से युक्त काव्य को प्रेयस्वत् काव्य कहते हैं।[3]

भामह, दण्डी से भिन्न सारणि पर उद्भट रसाभास से युक्त बन्ध को उर्जस्वि कहते हैं। रसाभास, भावाभास के प्रशम से युक्त बन्ध को समाहित अलंकार कहते हैं।[4] जिस काव्य में रसाभास एवं भावाभास का वर्णन हो, उसे उर्जस्वि कहते हैं।[5]

ध्वनिकार भी ऐसे ही स्थलों पर उर्जस्वि एवं समाहित अलंकार मानते हैं परन्तु वहाँ रसाभास एवं भावाभास तथा उनके प्रशम की अप्रधानता होने के कारण अलंकारता होती है, प्रधान वाक्यार्थ दूसरा होता है। उद्भट के समान ध्वनिकार

---

१. रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम्। — काव्यालं०सा०सं० ४/३

२. उद्भटे हि भावलंकार एव प्रेय इत्युक्तः। प्रेम्णा भावानामुपलक्षणात्। — ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ४०५

३. रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिः तत्प्रेयस्वदुदाहतम्।। — काव्या लं०सा०सं० ४/२

४. रसाभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत्समाहितम्।। —काव्यालंकार सा०सं० ४/७

५. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च प्रबन्ध उर्जस्वि कथ्यते।। — काव्यालं० सा०सं० ४/५

ने भी रसवत्, उर्जस्वि आदि को काव्य कोटिक माना है, परन्तु उपस्कारक होने के कारण तथा अप्राधान्येन व्यञ्जना होने के कारण उन्हें गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की संज्ञा दी है।

इस प्रकार ध्वनिकार ने पूर्ववर्ती आचार्यों के अलंकार प्रपञ्च को स्वीकार करते हुए भी रसादि की गुणीभूतता के विषय में अपना स्वतन्त्र मत रखते हुए दोनों मतों में सामञ्जस्य स्थापित किया है। रस के गुणीभूत होने पर रसवत् अलंकार, भाव के गुणीभूत होने के प्रेयस् अलंकार, रसाभास—भावाभास के अप्रधान होने पर उर्जस्वि अलंकार, भावशान्ति के गुणीभूत होने पर समाहित अलंकार होता है। [१]

(१) ***रसवदलंकार :***— ध्वनिकार ने रसवदादि अलंकारों के स्वरूप को उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। ध्वनिकार ने रसवत् अलंकार के शुद्ध एवं संकीर्ण दो प्रकार माने हैं। [२] पूर्ववर्ती आचार्यों ने रसवत् का रस की स्पष्ट प्रतीति रूप एक ही भेद माना था। ध्वनिकार ने रसवत् अलंकारों के दोनों प्रकारों का नाम निर्देश मात्र किया

१.१. अङ्गत्वमस्ति रसादीनां रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितालंकाररूपतायामिति भावः।

—ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ३८१

१.२. रसस्यागत्वे रसवदलंकारः। भावस्यांगत्वे प्रेयोलंकारः रसाभासभावाभासस्यांगत्वे ऊर्जस्विनामलंकारः। भावशान्तेरंगत्वे समाहितः। — का०प्र०बा०बो०टीका पृ०२०५

२. स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः संकीर्णो वा। — ध्व०द्वि०उ०पृ० ४०९

है लोचन में उसका लक्षण इस प्रकार दिया है —— ''शुद्ध इति। रसान्तरेणाऽङ्गभूतेनालङकारान्तरेण वा न मिश्र आमिश्रस्तु संकीर्णः।''

——ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ४०९

शुद्ध रसवत् से तात्पर्य है कि केवल कोई रस ही प्रधान वाक्यार्थ का अलंकरण करता है, उसमें किसी अन्य अलंकार, भाव या अन्य किसी रस की अंगता का संकर नहीं रहता है।

संकीर्ण रसवत् अलंकार में प्रधान वाक्यार्थ के उपस्कारक अंगभूत रस में दूसरे अलंकार अथवा रस, भाव का संकर रहता है। ध्वनिकार ने रसवदादि अलंकारों के प्रसंग में, केवल रसवत् अलंकार का सम्यक विवेचन करके स्थलीपुलाकन्याय से प्रेयस, ऊर्जस्वि तथा समाहित आदि अलंकारों का ज्ञान कराया है, परन्तु लोचनकार अभिनवगुप्त ने भाव, रसाभास एवं भावाभास की अंगता उदाहरण देकर स्पष्ट की है।[१]

(ख) प्रेयोऽलंकार :— भाव के गुणीभूत होने पर प्रेयोऽलंकार होता है जैसे—

''तवशतपत्रमृदुताम्रतलश्चरणश्चलकलहंसनूपुरकलध्वनिनामुखरः।
महिषासुरस्य शिरसि प्रसभं निहितः कनकमहामहीध्रगुरूतां कथमम्ब गतः''।।

—— **ध्व०द्वि०उ०पृ० ४२३**

---

१. अनेन भावाद्यालङ्कारा प्रेयस्यूर्जस्विसमाहिता गृह्यन्ते। — ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ४२२

अभिव्यक्त नायिकापरक श्रृंगार रहा उपस्कारक है, अत: वह अंग होने के कारण अलंकार हो गया है।[1]

अभिनवगुप्त के अनुसार रसाभास से तात्पर्य है कि "जहाँ रस पूर्ण रूप से अभिव्यक्त न हो वहाँ रस न होकर रसाभास होता है।"

रसाभास के समान भावाभास के चारूत्व हेतु होने पर ऊर्जस्वि अलंकार होता है जैसे—

"स पातु वो यस्य हतावशेषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति दैत्याः स्वाकान्तानयनोत्पलेषु।।"

— ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ४२५

प्रस्तुत उदाहरण में "त्रास" भाव का अनुचित प्रयोग होने के कारण "भावाभास" है, क्योंकि दैत्यों के रौद्र प्रकृति प्रधान होने के कारण उनके विषय में "त्रास" भाव की कल्पना सर्वथा अनुचित है।[2]

यहाँ कवि की "भगवत् श्रीकृष्ण विषयक रति" की प्राधान्येन व्यञ्जना हो

---

१. अत्र हि परमेशस्तुतिमात्रं वाचः परमोपादेयमिति वाक्यार्थे श्रृंगाराभासशचारूत्वहेतुः।

— ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ४२३

२. अत्रहि रौद्र प्रकृतीनामुचितस्त्रासो भगवत्प्रभावकारणकृत इति भावाभासः। — ध्व०लो०द्वि०उ०पृ० ४२५

रही है, अतः अंगी है। यहाँ भावाभास श्रीकृष्ण विषयक वाक्यार्थ में चारूता का आधान कर रहा है, अतः मुख्य वाक्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण अलंकार है। भावाभास के अलंकार रूप होने के कारण उसे ऊर्जस्वि अलंकार कहते हैं।

ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुपत ने रसवत्, प्रेयस् ऊर्जस्वि अलंकारों का उदाहरण प्रस्तुत करके रस, भाव, रसाभास एवं भावाभास की अंगता एवं अलंकाररूपता स्पष्ट की है, परन्तु समाहित अलंकार का उदाहरण न ध्वनिकार ने प्रस्तुत किया है न अभिनवगुप्त ने, परन्तु उनके अनुयायी आचार्य मम्मट ने भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि एवं भावशनलता चारो के अप्रधान होने पर समाहित अलंकार माना है एवं उनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।[१]

(घ) ***समाहित अलंकार*** :— दण्डी, भामह आदि प्राचीन आचार्यों ने केवल भावशान्ति के भाव का अंग होने पर समाहित अलंकार माना है।[२] भावोदय, भावसन्धि एवं भावशबलता को समाहित अलंकार नहीं माना है। इस पर आचार्य मम्मट ने तर्क उपस्थित किया है, कि यद्यपि आचार्यो ने भावोदय भावसन्धि एवं

---

१. अत्र हि भावस्य भावप्रशमः श्लोक सं० १२०, अत्र त्रासोदयः श्लोक सं० १२१, अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः श्लोक सं० १२२, अत्र शङ्काऽसूयाधृति स्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता। एते रसवदाद्यलंकाराः।

— का०प्र०पं०पृ० २०४

२. किञ्चिदारभमाणस्य कार्य दैववशात् पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्याँ तदाहुः समाहितम्।।

— काव्यादर्श २९८

भावशबलता को अलंकाररूप नहीं माना है, परन्तु रसवदादि अलंकारों के समान इनमें भी अन्य किसी का उत्कर्ष होता है और भावोदय आदि दूसरे का अंग होने के कारण अलंकाररूप हो जाते हैं। रसवदादि के समान अलंकारता रूप लक्षण की समानता के कारण इनको भी समाहित अलंकार कहा जा सकता है। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने समाहित पद को भावोदय आदि शेष तीन का भी उपलक्षण माना है।[१] आचार्य मम्मट ने भावोदय की अंगता इस प्रकार स्पष्ट की है—

"साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां कर्तुं
सुहृद्भिरपि वैरणि ते प्रवृत्ते।
अन्याभिधापि तव नाम विभो।
गृहीतं केनापि तत्र विषमरोदवस्थाम्।।" — का०प्र०पं०उ० १२१ सू०

प्रस्तुत उदाहरण में कवि की "राजविषयक रति" अर्थात् 'भाव' प्रधान है तथा विषम अवस्था द्वारा शत्रुओं में "त्रास रूप व्यभिचारी भाव का उदय" कविनिष्ठ राजविषयक रतिरूप "भाव" का उत्कर्षवर्धक अतश्च अंग हो गया है।[२] अत: यहाँ पर "भावोदय" के "भाव" का अंग होने के कारण समाहित

---

१. "यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्।"
— काव्य प्र०पं०उ०पृ० २०५

२. अत्र भावोदय:। — काव्य प्र०पं०उ०पृ० २०२

अलंकार है।

रसवदादि अलंकारों के अतिरिक्त रसादि की गुणीभूतता अनेक रूपों में हो सकती हैं। जब वाक्य में रसादि में तात्पर्य नहीं होता है तथा वाच्यार्थ गुणीभूतव्यङ्ग्य पदों से उद्भाषित होता है। वाक्यगत सम्पूर्ण व्यञ्जना रसाभिव्यञ्जनपरक न होकर वाच्यनिष्ठ होती है, वहाँ रसादि गुणीभूत हो जाता है।[१]

अर्थात् जहाँ चमत्कार का पर्यवसान रस में न होकर वाच्यनिष्ठ हो, रसादि गुणीभूतव्यङ्ग्य होकर वाच्य को ही उपस्कृत करते हैं, वहाँ रसादि गुणीभूतव्यङ्ग्य की कोटि में आता है जैसे –

''राजनमपि सेवन्ते विषयप्युपयुञ्जते।
रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशालाः खलु मानवाः।।''

ध्व०तृ०उ०पृ० १९५

यहाँ आशय यह है कि राजा का सेवा करना और स्त्रियों का उपभोग करना उतना ही विषम होता है जितना कि विष का सेवन करना। यहाँ पर शान्त

---

१. ''यत्र तु वाक्ये रसादितात्पर्य नास्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यैः पदैरूद्भासितेऽपि तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव समुदाय धर्मः।'' – ध्व०तृ०उ०पृ० १९५

रस की कल्पना की जा सकती है। सारा लौकिक व्यवहार ही नीरस प्राय दु:ख और क्लेश से भरा हुआ है। लोक राजाओं को महत्व देता है और स्त्रियों में लिप्त रहता है, परन्तु इनके परिणाम विषभक्षण के समान मारक हो जाते हैं। इस प्रकार ''यह वर्णन विष विषवैरस्य का प्रतिपादक है।'' उससे शान्त रस की भी व्यञ्जना होती है। तथापि यहाॅ पर ''रसध्वनि की कल्पना नहीं की जा सकती है'' क्योंकि यहाँ पर चमत्कार वाच्यनिष्ठ ही है। सम्पूर्ण वाक्य से यह व्यञ्जना निकलती है कि राजा एवं स्त्री इनको जिस फल की आकांक्षा से स्वीकारो, ये विपरीत फल देते हैं, यह विषभक्षण के समान असम्भव कार्य है। सम्पूर्ण वाक्यगत व्यञ्जना चमत्कार पर्यवसायी नहीं है, क्योंकि वाच्य का ही संस्कार करता है। अत: व्यङ्ग्य शान्त रस वाच्यार्थ को पुष्ट करने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य की कोटि में आता है।

इस प्रकार ध्वनिकार ने उदाहरणों द्वारा अलंकाररूप रसादि गुणीभूतव्यङ्ग्य एवं रसध्वनि का स्पष्ट विषय—निर्देश किया है। जब रस, अलंकार्य प्रधान हो तथा काव्य के समस्त तत्त्व रस की अपेक्षा गौण होते हुए रस का ही उपस्कार करते हैं, तब रसध्वनि होती है। जब रस अप्रधान होकर, प्रधानीभूत अन्य किसी वाक्यार्थ का अलंकरण करने के कारण अंगभूत अतश्च गौण हो जाता है तब रसादि की रसवदादि अलंकार संज्ञा होती है एवं वे गुणीभूतव्यङ्ग्य—काव्य कोटि में आते हैं।

(४) *काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य की गुणीभूतता* — ध्वनिकार के अनुसार — ''जहॉ पर काकु के द्वारा अर्थान्तर की प्राप्ति होने पर, व्यङ्ग्य का गुणीभाव हो, वह गुणीभूतव्यङ्ग्य का विषय होता है।''[१] ''काकु'' (कक् लौल्ये + उण्) शब्द का तात्पर्य है ''विशेष प्रकार की कण्ठ ध्वनि''[२] भिन्नकण्ठध्वनिधीरै: काकुरित्यभिधीयते अर्थात् यह शब्द का विशेष धर्म है। ''भावावेश या विशेष—भाव की अभिव्यक्ति के लिये विशेष प्रकार की परिवर्तित ध्वनि'' ही काकु कहलाती है। काकु द्वारा उच्चरित वाक्य से वाच्यार्थ के अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जित होता है।[३]

ध्वनिकार के अनुसार ''जहाँ काकु के द्वारा वाच्यार्थ के अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ रूप दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, व्यङ्ग्यार्थ के अभाव में वाच्यार्थ पर्यवसित नहीं होता है तथा वाच्योपस्कार होने के कारण व्यङ्ग्य वाच्य की अपेक्षा गुणीभूत होता है, वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य इस काव्य—भेद का विषय होता है''—

''अर्थान्तरगति: काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता।।''— ध्व० ३/३८

---

१. चा चैसा काक्वा क्वचिदर्थान्तरप्रतीतिर्दृश्यते सा व्यङ्ग्यार्थस्य गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणं काव्यप्रभेदमाश्रयते। — ध्व० ३/३९वीं की वृत्ति

२. ''कफ् लौल्ये'' इत्यस्य .... लौल्यमभिधीयते। — ध्व०लो०तृ०उ०पृ० ११७१

३. तेनहृदयस्य वस्तुप्रतीतेरीषद्भूमि: काकुतया यार्थान्तरगति: स काव्यविशेष इयं गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारमाश्रित:। ध्व०लो०तृ०उ०पृ० ११७१

उपर्युक्त कारिका में प्रयुक्त ''अर्थान्तरगतिः'' पद का तात्पर्य है ''वाच्यार्थ के अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ रूप दूसरे अर्थ की प्रतीति वाला काव्य है।'' [1]

''सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे'' पद का तात्पर्य है कि ''काकु'' द्वारा व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ के गुणीभूत होने पर, ही गुणीभूत—व्यङ्ग्य काव्यभेद होता है अन्यथा नहीं।''

ध्वनिकार ने काकु द्वारा आक्षिप्त व्यङ्ग्य की प्रधानता का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है, परन्तु उनके विवेचन से स्पष्ट है कि काकु स्थल में कहीं—कहीं व्यङ्ग्य गुणीभूत न होकर प्रधान भी होता है, व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर उसकी ध्वनिता ही होगी तथा काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य के वाच्य की अपेक्षा गौण होने पर उसकी गुणीभूतव्यङ्ग्यता होगी।

ध्वनिकार ने काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य के रूप में वेणीसंहार का पद्य उद्धृत किया है, [2] जिसमें ''स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः'' भीम की इस उक्ति में काकु द्वारा व्यङ्ग्य रूप विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। व्यङ्ग्यार्थ के अभाव में वाच्यार्थ अविश्रान्त है, तथा काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ 'मेरे जीवित रहते हुए यह असम्भव है कि धार्तराष्ट्र जीवित रहे'' वाच्यार्थ को उपपन्न बनाता

---

१. अर्थान्तरगतिशब्देनात्र काव्यमेवोच्यते। — ध्व०लो०तृ०उ०पृ० ११७१

२. ''लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः, प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य। आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्, स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः''॥ — वेणीसंहार

है। अतः वाच्य की सिद्धि का अंग होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत हो गया हैं यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ''मम्मट ने प्रस्तुत पद्य को काकु पर आधारित ध्वनिकाव्य का उदाहरण प्रतिपादित किया है।'' ध्वनिकार ने काक्वाक्षिप्त विशेष अर्थ को वाच्य रूप न कहकर व्यङ्ग्य रूप माना है क्योंकि काक्वाक्षिप्त विशेष अर्थ वाच्यार्थ के व्यक्त होने के अनन्तर अर्थ—सामर्थ्य से प्रतीत होता है। वक्ता विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये काकु द्वारा शब्दों का उच्चारण करता है। उन्हीं शब्दों से वाच्यार्थ के अतिरिक्त विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति, अभिधेय के सामर्थ्य से आक्षिप्त काकु की सहायता से होती है। विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति में काकु केवल सहायक—मात्र होता है। अर्थ की अभिव्यक्ति तो शब्द—शक्ति द्वारा होती है, क्योंकि बिना शब्दों का उच्चारण किये हुए केवल काकु के द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। अतः काकु द्वारा व्यक्त विशेषार्थ व्यङ्ग्य रूप होता है।[१] कदाचित ध्वनिकार को काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य की प्रधानता अभिप्रेत थी, इस कारण उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है कि जब काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ वाच्योपस्कारक, अप्रधान, वाच्य का अनुगमक अतश्च गौण हो जाता है, काकुव्यङ्ग्य के अभाव में वाच्यार्थ विश्रान्त नहीं होता है, वक्ता के अभिप्राय की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती है, वहाँ वाच्य अपनी अभिव्यक्ति के लिये व्यङ्ग्यार्थ

१.१. शब्दशक्तिरेव हि स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तकाकुसहायासत्यर्थविशेषप्रतिपत्तिहेतुर्नतु काकुमात्रम्।

१.२. स चार्थः काकुविशेषसहायशब्दव्यापारोपारूढोऽप्यर्थसामर्थ्यलभ्य इति व्यङ्ग्यरूप एव।

— ध्व० ३/३९ की वृत्ति

का आपेक्ष कर लेता है तथा व्यङ्ग्यार्थ में ही रमणीयता का पर्यवसान होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत हो जाता है।[१] ध्वनिकार द्वारा प्रयुक्त ''यदा'' पद के प्रयोग से स्पष्ट है कि ध्वनिकार को काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य की ध्वनिता भी अभीष्ट थी।

ध्वनिकार की ''सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिभमाश्रिता'' पंक्ति का मम्मटाचार्य ने यह अर्थ लिया है कि ''काकु स्थल में कदाचित् व्यङ्ग्य का प्राधान्य होने पर ध्वनिकाव्य तथा काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ के गुणीभूत होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का विषय होता है। आचार्य मम्मट ने काकु द्वारा व्यञ्जित प्रधान एवं गौण व्यङ्ग्यार्थ का अन्तर इस रूप में स्पष्ट किया है कि जहाँ व्यङ्ग्यार्थ एवं वाच्यार्थ की अविलम्ब प्रतीति हो तथा व्यङ्ग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ अपने में अविश्रान्त रहे[२] वहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्योपस्कारक होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य—काव्य प्रकार का आश्रय लेता है। जहाँ काकु द्वारा उच्चरित वाक्य में काकु से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ के बिना भी वाच्यार्थ पर्यवसित हो जाय तथा प्रकरणादि की पर्यलोचना करने के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति विलम्ब से होने के कारण वह वाच्योपस्कारक नहीं अतश्च प्रधान हो वहाँ ध्वनिकाव्य होता है।

---

१. वाचकत्वानुगमनैव तु यदा तद्विशिष्टवाच्यप्रतीतिस्तदा गुणीभूतव्यङ्ग्यता तथाविधार्थद्योतिन: काव्यस्य व्यपदेश: — ध्व० ३/३९ की वृत्ति

२. व्यङ्ग्यार्थवाक्यार्थयोर्युपगद् यत्र भानं तत्र वाच्यसिद्ध्यङ्गगुणीभूत—व्यङ्ग्यविशेषत्वम् इति।
— का०प्र०टीका तृ०उ०पृ० ७५

मम्मट ने काव्य—प्रकाश के पञ्चम उल्लास में गुणीभूतव्यङ्ग्य का यह उदाहरण दिया है —

''नमथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्

दु:शासनस्य रूधिरं न पिबाम्युरस्त:।

संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू

सन्धिम् करोतु भवतां नृपति: पणेन।। — का०प्र०पं०उ०पृ० २१०

यहाँ ''नमथ्नामि'' यह पद ''विशेष भाव'' की अभिव्यक्ति के लिये काकु द्वारा उच्चरित किया गया है। यहाँ वाच्यार्थ बाधित सा प्रतीत होता है तथा वाच्यार्थ अपने में अविश्रान्त है, उसके श्रवणान्तर अविलम्ब रूप से व्यङ्ग्यार्थ ''मैं अवश्य ही कौरवों का नाश कर डालूँगा'' की प्रतीति होती है। अत: वाच्यार्थ के पर्यवसान के लिये ''मथ्नाम्येव'' इस व्यङ्ग्यार्थ के उपस्थापन द्वारा काकु ही समर्थ होता है।[1]

अत: वाच्योपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है।

ध्वनिकार के स्पष्ट निर्देश के अभाव में लोचनकार यह शंका उद्भावित करते है कि पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि चूंकि ध्वनिकार ने केवल यह कहा

---

१. ''मथ्नामि कौरवशतम्'' इत्यत्र तु प्रतिज्ञातकुरूकुलक्षयस्य भीमस्य ''न मथ्नामि'' इत्युक्तबाधित्वादपर्यवसन्नस्यवाक्यार्थस्य पर्यवसानरूपसिध्यै मथ्नाम्येवेति व्यङ्ग्योपस्थानद्वारा काकुरेव प्रभवतीति काकोर्वाच्यसिद्धयङ्गत्वे तद्द्वारीभूतस्य व्यङ्ग्यस्यापि तथात्वेन गुणीभूततया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेवेति।

— का०प्र०बा०बो०टीका तृ०उ०पृ० ७५

कि व्यङ्ग्य के गुणीभाव होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य—काव्य होता है। अत: काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य का प्राधान्य होने पर ध्वनिकाव्य होगा। लोचनकार स्वत: कल्पित पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य स्थल में सर्वत्र गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य ही होता है पूर्वपक्ष की उपर्युक्त शंका सर्वथा असत् है।[१]

लोचनकार काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य की इस रूप में व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ''काकु'' ध्वनि का विकार होने के कारण ''शब्द का विशेष धर्म होता है''। अत: काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर भी वह मानों शब्द द्वारा उक्त होकर ''वाच्य तुल्य'' ही हो जाता है। अत: काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य का सर्वत्र गुणीभाव ही हो जाता है प्रधानता नहीं हो सकती है।[२] काकु स्थल में विभिनन भंगिमाओं द्वारा हृदयस्थ भावों को प्रकट किया जाता है। अत: वाच्य के अतिरिक्त काकु द्वारा दूसरा व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जित होता है, जिसके अभाव में वक्ता के तात्पर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति असम्भव है, व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ को विश्रान्त बनाता है, अत: वाच्योपस्कारक होता है। कारिकाकार द्वारा उद्धृत ''स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्रा:'' भीम की उक्ति को ही लोचनकार ने सर्वत्र गुणीभाव के रूप

---

१. अन्येत्वाहु:—व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽयं प्रकार: अन्यथा तु तत्रापि ध्वनित्वमेवेति तच्चासत्।

— ध्व०लो०तृ०उ०पृ० ११७२

२. काकुप्रयोगे सर्वत्र शब्दस्पृष्टत्वेन व्यङ्ग्यस्योन्मीलितस्यापि गुणीभावत् काकुर्हि शब्दस्यैव कश्चिद्धर्मस्तेन स्पृष्टं ''गोप्यैवं गादित: सलेशम्'' इति वच्छब्देनैवानुगृहीतम्।

में उद्धृत किया है। उपर्युक्त उदाहरण में वाच्यार्थ के अतिरिक्त काकुव्यञ्जना से भीष्म के "अत्यन्त क्रोधानुरूप भाव" की अभिव्यक्ति होती है। जिसके अभाव में वाच्यार्थ पर्यवसित नहीं होता है [१] तथा वाच्यार्थ में विरोध सा प्रतीत होता है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ "मेरे जीवित रहते हुए धार्तराष्ट्र स्वस्थ नहीं रह सकते हैं उनका अकल्याण निश्चित है" के द्वारा भीम की उक्ति का वाच्यार्थ पर्यवसित हो जाता है, अतः यहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्योपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है। अतः काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य स्थलों में सर्वस्त्र गुणीभूतता ही होती है, ध्वनिता नहीं हो सकती है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का उपसंहार करते हुए आचार्य ने व्यङ्ग्यार्थ की गुणीभूतता का इस प्रकार निर्देश दिया है —

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।

समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः।।

व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।

न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते।।

— ध्व०लो०प्र०उ०पृ० २३३

इसका विश्लेषण करने के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ की गुणीभूतता चार रूपों में स्पष्ट होती है।

---

१. काकुयोजनायां सर्वस्त्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव। — ध्व०लो०तृ०उ०पृ० ११७९

उक्त सम्पूर्ण विवेचन को देखते हुए गुणीभूतव्यङ्ग्य के अधोलिखित प्रकार सिद्ध होते हैं—
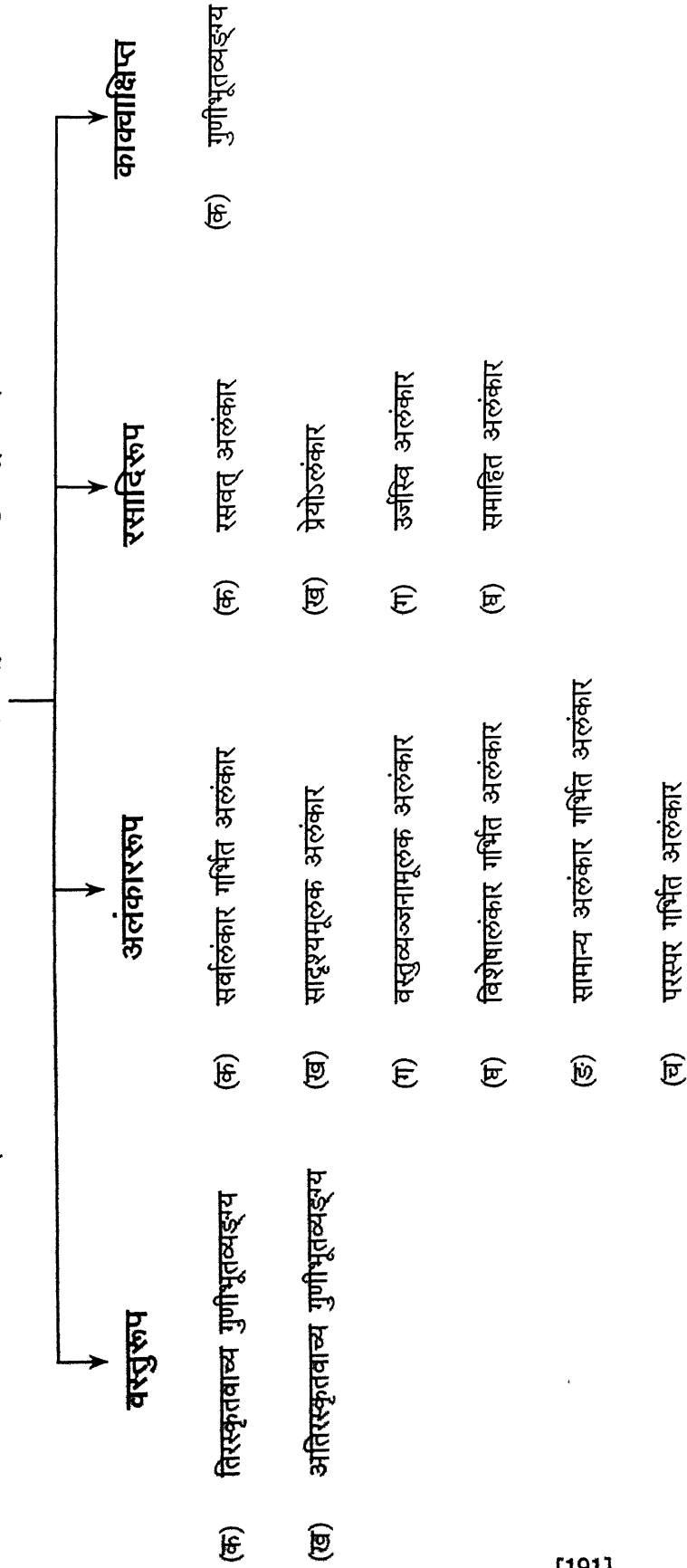
ललनाओं के लावण्य के समान व्यङ्ग्य अर्थ का प्राधान्य होने पर ध्वनिकाव्य होता है, उस व्यङ्ग्य का गुणीभाव हो जाने से वाच्य अर्थ के चारूत्व की वृद्धि हो जाने पर गुणीभूत नामक काव्य—भेद माना जाता है।[१]

अलंकारों की मधुरिमा से युक्त गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य उत्कृष्ट वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ के संस्पर्श के कारण अत्यन्त रमणीय, सहृदयश्लाघ्य एवं सहृदयहृदयाह्लादक होते हैं। यह तथ्य अवधेय है कि ध्वनिकार ने कहीं भी ध्वनिकाव्य को उत्तम एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य को मध्यम या ध्वनिकाव्य की अपेक्षा ''अवरकाव्य'' संज्ञा नहीं प्रदान की है। उन्होंने केवल काव्य के दो प्रकारों का उल्लेख किया है। ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य, दोनों काव्य प्रकारों में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता एवं अप्रधानता का ही अन्तर है।[२] ध्वनिकार ने ''चारूत्वोकर्ष'' को ही व्यङ्ग्य की प्रधानता एवं अप्रधानता का आधार माना है एवं उसी आधार पर काव्य—विभाजन किया है। वाच्य एवं व्यङ्ग्यार्थ में से जिसमें चारूत्व का पर्यवसान होता है उसी की प्रधानता होती है।[३] ध्वन्काव्य में व्यङ्ग्यार्थ में चारूत्व का पर्यवसान होता है और व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होता है।

गुणीभूतकाव्य में वाच्यार्थ में चारूत्व का पर्यवसान होता है और व्यङ्ग्यार्थ

---

१. प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।

यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारूत्वं स्यात् प्रकर्षवत्।। — ध्व०तृ०उ०पृ० २८७

२. व्यङ्ग्योऽर्थोललनालावण्यप्रख्यो ....प्रकल्प्येत्। — ध्व०लों०तृ०उ०पृ० १२३

३. चारूत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविविक्षा। — ध्व०द्वि०उ०पृ० ६३७

अप्रधान होता है, अन्यथा दोनों काव्य भेद समान रूप से सुन्दर होते हैं, परन्तु आचार्य मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य को ''मध्यम'' काव्य की संज्ञा प्रदान की है।[१] जो कि मम्मट की अपनी उद्‌भावना है परन्तु परवर्ती आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की उत्कृष्टता से अत्यन्त प्रभावित थे। अत: उन्हें ''मध्यम संज्ञा'' उचित नहीं प्रतीत हुई। उन्होंने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य को उत्तम संज्ञा प्रदान करने के लिये काव्य का पुर्नविभाजन किया।[२]

ध्वनिकार दोनों काव्य भेदों को समान रूप से उत्कृष्ट काव्य भेद मानते हैं। यह तथ्य उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है —

''प्रभेदस्यास्यविषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते।
विभातव्या सहृदयैनं तत्र ध्वनियोजना।।'' — ध्व० ३/३९

उपर्युक्त कारिका में प्रयुक्त 'युक्ति'' पद का तात्पर्य है — ''चारूत्वप्रतीति''[३] ध्वनिकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य स्थल में सहृदयों को

---

१. अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्य व्यङ्ग्ये तु मध्ययम्। — का०प्र०प्र०उ०पृ० ३१

२. तच्चोत्रमोत्तमोत्तम — मध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा।
द्वितीयमुत्तमं लक्ष्यति —— 'यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानयेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम।।''
— रसगं० प्र०आ०पृ० ६३

३. युक्तेति। चारूत्वप्रतीतिरेवात्र युक्ति:। — ध्व०लो०तृ०उ०पृ० ११८१

ध्वनिकाव्य की योजना नहीं करनी चाहिये। चारूत्वाधिक्य ही नामकरण का एक मात्र आधार होना चाहिए। यदि व्यङ्ग्य में चमत्काराधिक्य हो तो उसे ध्वनि तथा वाच्य के रमणीयता युक्त होने पर उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की संज्ञा प्रदान करनी चाहिए जैसा कि ध्वनिकार की "न सर्वत्र ध्वनिरागिणा" [१] पंक्ति गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के महत्व को प्रदर्शित करती है। यदि गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य ध्वनि की अपेक्षा निम्न या अवर कोटि का काव्य होता है तो ध्वनिकार उपर्युक्त पंक्ति कदापि न कहते। ध्वनिकार गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं —

"प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा।।" — ध्व० ३/३६

प्रसन्न और गम्भीर अर्थात् प्रसादगुणयुक्त तथा व्यङ्ग्य सम्बन्ध से अर्थगाम्भीर्ययुक्त जो आनन्ददायक काव्यरचनाएं हों, उसमें बुद्धिमान कवि को इसी प्रकार उपयोग करना चाहिये, अर्थात् ध्वनि के सम्भव न होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य की योजना से भी कवि को कविपद की प्राप्ति होती है अन्यथा कविता उपहासयोग्य ही होती है।

---

१. द्रष्टव्य। — ध्व०तृ०उ०पृ० ११८१

और जो नाना प्रकार की उस अलौकिक व्यङ्ग्य के सस्पर्श के कारण रमणीय प्रकाशमान रचनाएँ विद्वानों के लिये आनन्ददायक होती हैं उन सभी काव्यरचनाओं में गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य उपयोग में लाना चाहिए, [1] क्योंकि गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य पद योजना में प्रसाद गुण के योग से प्रसनन तथा व्यङ्ग्यार्थ के उपस्कारक होने के कारण ''गम्भीरतायुक्त अत: रमणीय चारूतायुक्त होने के कारण सहृदयों के लिए सुखावह होते हैं अर्थात् जो सुखावह एवं काव्य—मर्मज्ञ सहृदय व्यक्तियों द्वारा श्लाघ्य, काव्य—प्रबन्ध हैं, उनमें गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य—भेद की योजना करनी चाहिए। लोचनकार भी इसी बात पर बल देते हैं। [2] लोचनकार के अनुसार वे ही सहृदय एवं काव्यमर्मज्ञ कहलाने के अधिकारी हैं, जो अपनी रचना में गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य—विधा का सम्पादन करने में समर्थ होते हैं, अन्यथा उनकी रचना उच्चकोटि का काव्य कहलाने की अधिकारी नहीं हो सकती है। गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का प्रतिपादन कवि की वाणी को पवित्र कर देता है। अत: इस प्रकार के काव्य की योजना करने में केवल विवेकीजन अर्थात् काव्यमर्मज्ञ सहृदय व्यक्ति ही समर्थ होते हैं। जो समर्थ नहीं

---

१. ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अवि प्रकाशमानास्तथाविधार्थरमणीया: सन्तो विवेकिनां सुखावहा: काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम योजनीय:। — ध्व०तृ०उ०पृ० २८९

२. ''प्रसन्नानि प्रसादगुणयोगाद्गम्भीराणि च व्यङ्ग्यार्थपेक्षकत्वात्पादानि येषु। सुखावहा इति चारूत्वहेतु:। तत्राऽयमेव प्रकार इति भाव:।'' — ध्व०लो०तृ०उ०पृ० ११३३

होते हैं, वे वास्तविक कवि या सहृदय नहीं कहे जा सकते हैं।[१]

ध्वनिकार एवं लोचनकार के कथनों से यह बात ध्वनित होती है कि ध्वनिकाव्य तो रमणीय होता ही है परन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का भी महत्व कम नहीं है। अतः उच्चकोटि की रचनाओं में गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य—विधा की योजना करनी चाहिये।

ध्वनिकार के अनुसार महाकवियों की वाणी का प्रधान आभूषण गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है। जिस प्रकार विविध अलंकारों से अलंकृत होने पर भी लज्जा ही नारी का प्रमुख आभूषण होता है, उसी प्रकार उपमा, रूपकादि अनेक शब्दार्थालंकारों से अलंकृत भी महाकवियों की वाणी में गुणीभूत भी व्यङ्ग्यार्थ द्वारा सम्पादित रमणीयता ही प्रमुख होती है।[२]

गुणीभूतव्यङ्ग्य द्वारा ही काव्य में अद्वितीय रमणीयता एवं विलक्षण कमनीयता उत्पन्न हो जाती है। गुणीभूतव्यङ्ग्य के अभाव में अलंकृत काव्य भी वाच्य रूप ही लगता है।

'ध्वनिकार ने' गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का महत्व प्रदर्शित करते हुए व्यङ्ग्य द्वारा सम्पादित वाच्य की अद्वितीय कमनीयता को निम्न उदाहरण द्वारा

---

१. सुमेषसेति। यस्त्वेतं प्रकारं तत्र योजयितुं न शक्तः स परमलीकसहृदयभावनामुकुलितलोचनोक्त्योपहसनीयः स्यादिति भावः। — ध्व०लो०तृ०उ०पृ० १३३

२. मुख्या महाकविगिरामअलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायेषां भूषां लज्जेव योषिताम्।। — ध्व ३/३७

प्रस्तुत किया है –

''विश्रम्भोत्था मन्यथाज्ञाविधाने ये मुग्धाक्ष्या: केऽपि लीलाविशेषा:।
अक्षुण्णास्ते चेतसा केवलेन स्थित्वैकान्ते सन्वृतं भावनीया:।।''

– ध्व०तृ०उ०पृ० १६६

प्रस्तुत उदाहरण में ''केऽपि'' पद से कटाक्षों का अनिवर्चनीय महात्म्य विलक्षणता, अपरिमेयता तथा उत्कृष्टता व्यञ्जित होती है। उक्त व्यङ्ग्यार्थ ही वाच्य का उपस्कारक है, उसी के कारण वाच्य में सौन्दर्य उत्पन्न हो रहा है, परन्तु सौन्दर्य का पर्यवसान वाच्यार्थ में हो रहा है, अतश्च व्यङ्ग्य गुणीभूत हो गया है।

इस प्रकार ध्वनिकार ने किसी काव्य–विधा को गुणीभूतव्यङ्ग्य नाम केवल ''अवान्तर–व्यङ्ग्य की गौणता की दृष्टि से ही दिया है क्योंकि प्रत्येक काव्य का अन्तत: पर्यवसान तो रसध्वनि में ही होता है। ध्वनिकार के अनुसार व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर ध्वनि अथवा वाच्यार्थ की प्रधानता होने पर किसी काव्य–विधा को गुणीभूतव्यङ्ग्य–काव्य की आख्या प्रदान की जा सकती है परन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का पर्यवसान भी प्रधानीभूत रस–व्यङ्ग्य में ही होता है, अन्तत: इसमें भी रसभावादि व्यङ्ग्य की प्रधानता होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य–

काव्य प्रकार की ध्वनिरूपता को धारण करता है [१]——

अर्थात् गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में एक मध्यवर्ती व्यङ्ग्य वाच्य का उपस्कारक होने के कारण गौण होता है, वाच्य प्रधान होत है परन्तु पुन: इस काव्य विधा का पर्यवसान रस, भाव इत्यादि में होता है, तथा रसादि रूप व्यङ्ग्य के प्रति प्रधान वाच्यार्थ गौण हो जाता है। रस सदैव व्यङ्ग्य होता है। कभी वाच्य नहीं हो सकता है और काव्यात्मा रूप में रस ध्वनि को ही स्वीकार किया गया है। अत: रसभावादि की पर्यालोचना करने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य भी ध्वनिरूपता को धारण करता है अर्थात् गुणीभूतव्यङ्ग्य पहले वाच्यांग होता है, पुन: वाच्य एंव गुणीभूतव्यङ्ग्य रसांग होकर, ध्वनिकाव्य में पर्यवसित हो जाते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण विवरण के आलोकन से यह तथ्य सिद्ध होता है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य भी अत्यन्त रमणीय, सहृदय श्लाघ्य एवं उच्चकोटि का काव्य होता है। आचार्य मम्मट ने इस काव्य—विधा को ''मध्यम'' आख्या प्रदान की है जो कि उचित नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि ''मध्यम संज्ञा'' से गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का ध्वनिकाव्य की अपेक्षा अवरत्व या निम्नकोटित्व भासित होता है। इसका आभास आचार्य मम्मट को भी न था, अन्यथा वह गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य को मध्यम संज्ञा न प्रदान करते।

---

१. ''प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।

धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुन:।।'' — ध्व० ३/४०

ध्वन्यालोक के अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि आनन्दवर्धनाचार्य एवं आचार्य अभिनवगुप्त दोनों को गुणीभूतव्यङ्ग्य का ध्वनिकाव्य की अपेक्षा अवरत्व अभीष्ट न था क्योंकि उन्होंने कहीं भी इन काव्य–भेदों को ''उत्तम या मध्यम संज्ञा'' नहीं प्रदान किया है, न ही ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के आठ भेदों का उल्लेख किया है, यद्यपि इन भेदों का स्पष्ट आभासत ध्वन्यालोक में मिलता है। इनमें से अगूढ़, अस्फुट एवं असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य भेदों को भले ही ''मध्यम संज्ञा'' प्रदान की जा सकती है, परन्तु अन्य भेद अन्ततः रस में पर्यवसित होकर उत्कृष्टतम काव्य कहलाने के अधिकारी हैं। ध्वन्यालोक के टीकाकार डा० रामसागर त्रिपाठी के अनुसार तो गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य, ध्वनिकाव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट काव्य–भेद होता है, क्योंकि वही काव्य उच्चकोटिक माना जा सकता है, जिसमें वाच्यार्थ भी चमत्कारपूर्ण हो, व्यङ्ग्यार्थ भी रमणीयता युक्त हो तथा काव्य का अन्ततः पर्यवसान रसध्वनि में हो रहा हो।

ध्वनिकाव्य में वाच्यार्थ विशेष चमत्कारपूर्ण नहीं होता है केवल व्यङ्ग्यार्थ ही चमत्कारपूर्ण होता है। वाचक शब्द, वाच्यार्थ, व्यञ्जना व्यापार एवं व्यञ्जक शब्द व्यङ्ग्यार्थ के प्रति गौण होते हैं, अतः व्यङ्ग्यार्थ की ही प्रधानता होती है। गुणीभूतव्यङ्ग्य — काव्य में वाच्यार्थ उत्कृष्ट कोटि का होता है तथा एक अवान्तर व्यङ्ग्य वाच्यार्थ का उपस्कारक होकर वाच्यार्थ में नवीन रमणीयता का आधान करता है, पर्यवसान में भावात्मक चमत्कार होता है तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य–काव्य का अन्ततः पर्यवसान रसध्वनि में होने के कारण व्यङ्ग्य रस भी सहृदयाह्लादक

होता है। गुणीभूतव्यङ्ग्य—काव्य में मध्यवर्ती व्यङ्ग्य द्वारा वाच्यार्थ के अनुप्राणित किये जाने के कारण उसमें अलंकार की मधुरिमा भी आ जाती है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य—काव्य भेद, ध्वनिकाव्य की ही तरह उत्कृष्ट काव्य होता है। इस तथ्य की पुष्टि दोनों काव्य प्रकारों के उदाहरणों द्वारा हो जाती है।

ध्वनिकार ने ध्वनिकाव्य के उदाहरण रूप में निम्न गाथा को उद्घृत किया है --

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।

गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन।।

प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ है कि हे धार्मिक अब तुम विश्वस्त होकर गोदावरी के तट पर भ्रमण कर सकते हो, क्योंकि जिस कुत्ते से तुम डरते थे, उसे कुञ्ज में स्थित उद्धत सिंह ने आज मार दिया है, जिसमें विशेष सौन्दर्य नहीं है। इससे निषेधपरक व्यङ्ग्यार्थ व्यक्त होता है कि अभी तक तुम कुत्ते से ही डरते थे, परन्तु अब वहाँ ''भयानक सिंह'' भी आ गया है जो दिन में भी घूमता है। तुम धार्मिक अतएव भीरू हो तुम्हें पूजन सामग्री के लिये वहाँ नहीं जाना चाहिये। इस व्यङ्ग्यार्थ के पीछे ''नायिका का स्वच्छन्द रूप से संकेत स्थान पर मिलन एवं संकेत स्थान की रक्षा'' रूप तात्पर्य निहित है।

इस प्रकार यहाँ 'विधी रूप'' वाच्यार्थ सौन्दर्य रहित है तथा निषेध रूप

''वस्तु व्यङ्ग्य'' ही चमत्कारपूर्ण है एवं प्रधान है अन्य कोई अवान्तर व्यङ्ग्य वाच्योपस्कारक नहीं है। इस प्रकार वाच्यसौन्दर्य रहित ध्वनिकाव्य का यह उदाहरण है। गुणीभूतव्यङ्ग्य—काव्य का भी अन्ततः पर्यवसान रस ध्वनि में ही होता है। इस तथ्य की पुष्टि के लिये ध्वनिकार ने निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है—

''पत्यु शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वकम्।

सा रञ्जयित्वा चरणौ कृतशीर्याल्येन तां निवर्चनं जघान।।''

— ध्व०तृ०उ०पृ० १८१

प्रस्तुत उदाहरण का वाच्यार्थ है कि ''चरणों को अलक्त से अलंकृत करने वाली सखियों द्वारा 'इससे पति की चन्द्रकला का स्पर्श करो'' इस प्रकार परिहासपूर्वक उपदेश दिये जाने पर पार्वती ने बिना कुछ कहे ही उनको माला से मार दिया।''

प्रस्तुत उदाहरण का वाच्यार्थ अत्यधिक सुन्दर एवं चमत्कारोत्पादक है, इसी वाच्यार्थ में रमणीयता का पर्यवसान होता है। उदाहरण के 'निर्वचनं'' पद से लज्जा अभिलषित अर्थ का प्रत्याख्यान, ''अवहित्था'' चरणों पर गिरने की बात सुनकर प्रसन्नता, परन्तु कुमारी जनोचित लज्जावश भावगोपन, 'ईर्ष्या'' सौत का शिरोधारण ''भय'' यह कुमारी जनोचित—भाव है, ''सौभाग्य'' सौत

सहित प्रियतम का चरण—पतन, ''अभिमान'' चन्द्रकला की अपेक्षा अधिक सौन्दर्ययुक्त होने का भान इत्यादि भाव व्यञ्जित होते हैं, परन्तु यह व्यङ्ग्यार्थ प्रधान नहीं है, वरन् कुमारी जनोचित अस्वीकृत रूप वाच्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है।[१] इस गुणीभूतव्यङ्ग्य—काव्य का भी अन्ततः पर्यवसान श्रृंगार—रस में होता है। यह श्रृंगार—रस सभी की अपेक्षा प्रधान होने के कारण ध्वनिरूपता को धारण करता है तथा रस की अपेक्षा अप्रधान गुणीभूतव्यङ्ग्य एवं उपार्यत्वात् प्रधान वाच्यार्थ भी गौण हो जाता है।[२]

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि ध्वनिकाव्य का पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है, क्योंकि ध्वनिकार के अनुसार सरस काव्य रचना में प्रयुक्त, महाकवि के काव्य का हर पद्य रस पर्यवसायी होता हुआ चारूत्वातिशय का पोषण करता है, अतः प्रत्येक काव्य ध्वनि धर्मता को धारण करता है।[३] ध्वनिकार ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि जब कवि के तात्पर्य की विश्रान्ति रसादि में होती है तो ऐसे स्थलों ण्र गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य भी रस का अंग हो

---

१. निवर्चनं अनेम लज्जावहित्थहर्षर्ष्यासाध्वससौभाग्याभिमानप्रभृति यद्यपि ध्वन्यते, तथापि तन्निवर्चनशब्दार्थस्य कुमारीजनोचितस्याप्रतिपत्तिलक्षणस्यार्थस्योपस्कारता केवलमाचरति। — ध्व०लो०तृ०उ०पृ० ११८१

२. उपस्कृतस्त्वर्थः शृंगाराङ्गतामेतीति। — ध्व०लो०तृ०उ०पृ० ११८१

३. तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसाङ्गतां न धत्ते तथोपनिबध्यमानं वा चारूत्वातिशयं पुष्णाति। सर्वमेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते।

जाता है।[1]

इस प्रकार सम्पूर्ण विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि ''ध्वनि'' समस्त काव्यों का उपनिषद्भूत, प्रधान एवं सारभूत तत्त्व, अतएव आत्मस्वरूप होता है। ध्वनिकाव्य में वाच्यार्थ गौण रहते हुए, रसध्वनि में पर्यवसित होता है। गुणीभूतव्यङ्ग्य —काव्य भी अवान्तर व्यङ्ग्य द्वारा उपस्कृत, उत्कृष्ट एवं प्रधान वाच्यार्थ के सहित, अन्ततः रस—ध्वनि में ही पर्यवसित होता है।

इसी कारण ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य को ध्वनि का निष्यन्द रूप ध्वनि का प्रवाह माना है। जैसे— चाटूक्तियों एवं देवतास्तुतियों आदि में व्यङ्ग्यविशिष्ट प्रधान वाच्यार्थ की रस के अंग के रूप में व्यवस्था की जाती है वहॉ भी गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य ध्वनि निष्यन्द रूप होता है।[2] अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य, ध्वनिकाव्य से भी उच्चकोटि का काव्य होता है। इसकी योजना उच्चतम काव्यों में ही करनी चाहिये। गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का महत्व प्रदर्शित करते हुए स्वयं ध्वनिकार कहते हैं कि ''ध्वनि का निष्यन्द रूप यह काव्य अत्यन्त रमणीय एवं महाकवियों की रचना का उत्तम विषय होता है। अतः सहृदयों को इस काव्य भेद

---

१. रसाद्यपेक्षायां .... इत्युक्तं .....। — ध्व०तृ०उ०पृ० १२३२

२. यदातुचाटुषु देवतास्तुतितिषु वा रसादीनामङ्गतया व्यवस्थानं कासुचिद्व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्ये प्राधान्यं तदपि गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य ध्वनिनिष्यन्दभूतत्त्वमेवेत्युक्तम्। — ध्व०तृ०उ०पृ० १२३२

की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।[१] यह काव्य का अत्यन्त रहस्यपूर्ण तथ्य है, जो कि सहृदय विद्वज्जनों के द्वारा विचारणीय है।[२]

---

१. तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकवि विषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः। सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्।

— ध्व०तृ०उ०पृ० ११५६

२. तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिर्भावनीयम्। — ध्व०तृ०उ०पृ० ११५६

तृतीय अध्याय

'नैषधीयचरितम्' के ध्वनि पक्षों का विश्लेषण

आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित सर्वथा नवीन ''ध्वनिसिद्धान्त'' जिसमें 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा माना गया है, संस्कृत काव्यशास्त्र का मान्यतम सिद्धान्त है।

आनन्दवर्धन काव्य के दो भेद मानते हैं – ध्वनि और गुणीभूत–व्यङ्गय। आनन्दवर्धन दोनों काव्य–भेदों को समान रूप से सुन्दर एवं चारूत्वयुक्त मानते हैं। इन्होंने 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा बताते हुये 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को भी चारूत्वयुक्त मानते हुये काव्य में उसका यथास्थान प्रयोग किया है। दोनों काव्य–भेदों के विभाजन का आधार व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता और अप्रधानता ही है। अतः प्रसतुत अध्याय में 'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य के ध्वनि पद्यों का विश्लेषण करने के उपरान्त चौथे अध्याय में 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के प्रयोग का का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

''दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम्।

बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्ववोधिकाम्।।'' नै० १/६

प्रस्तुत पद्य में श्रीहर्ष कवि नल कथा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि —

''(इन्द्रादि) दिग्पाल — समूह के अंश से विभूति वाले तथा आठ दिशाओं के स्वामी उस नल ने काम की प्रबलता को रोकने वाले तथा अपने को त्रिनेत्र शिव के अवतार का बोध कराने वाले दो से अधिक शास्त्ररूप तृतीय नेत्र को धारण किया।''

राजा नल सम्पूर्ण दिशाओं के शासक थे, और इन्द्रादि दिग्पाल १—१ दिशा के ही शासक थे, अतएव इन्द्रादि से नल की विभूति अधिक थी। इस प्रकार वे राजा नल शास्त्ररूप तृतीय नेत्र को प्राप्तकर इच्छा की प्रबलता अर्थात् मन को शास्त्रविरुद्ध कार्य में प्रवृत्त होने से उसी प्रकार रोकते थे, जिस प्रकार त्रिनेत्रधारी भगवान शंकर ने अपने तृतीय नेत्र से कामदेव की प्रबलता को रोका था। यहाँ 'दिशां' में प्रयुक्त बहुवचन से यह अर्थ ध्वनित होता है, कि इन्द्रादिक दिगीश तो केवल एक—एक दिशा के स्वामी थे, जबकि राजा नल सभी दिशाओं के स्वामी थे, इस प्रकार उपमेय राजा नल उपमानभूत इन्द्रादिक दिगीशों से बढ़कर थे।

इसी प्रकार यहाँ पर 'दिशाम् ईशिता' वाक्यांश से व्यतिरेक अलंकार ध्वनित हो रहा है, और ध्वनित होने वाला यह अर्थ अलंकार रूप है, इसलिये इस अंश में 'अलंकारत्व ध्वनि' हुई। शेष अंश में शास्त्रों को नेत्र कहा गया है।

इसके अतिरिक्त 'शास्त्राणि दृशम्' अंश में शास्त्रों को उनका नेत्र बताते हुए कवि ने रूपक अलंकार का प्रयोग किया है, और रूपक के माध्यम से 'कामप्रसभावरोधिनीम्' में प्रयुक्त 'काम' पद के सहाय्य से यह प्रतिपादित किया है कि राज नल स्वेच्छाचारी नहीं थे, और सारा कार्य शास्त्र प्रतिपादित विधि से ही करते थे। इस प्रकार इस अंश में रूपक और श्लेष अलङ्कारों के द्वारा उक्त वस्तुरूप अर्थ को व्यक्त करने में कवि का अभिनिवेश है।

इस प्रकार यहाँ वस्तुरूप अर्थ के प्राधान्य के कारण यह वस्तु ध्वनि का उदाहरण है।

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरूते यदा यदा।

तनोति भानोः परिवेषकैतवात् तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि।। नै० १/१४

प्रस्तुत पद्य में राजा नल की श्रेष्ठता प्रदर्शित की गई है।

''जब—जब ब्रह्मा उस राजा नल के प्रताप और यश के आधिक्व की दृष्टि से सूर्य तथा चन्द्रमा की स्थिति को व्यर्थ समझने लगते हैं, तब—तब इन दोनों के चारों ओर वर्त्तुलाकार घेरा बना दिया करते हैं।''

राजा नल सूर्य के समान तेजस्वी हैं, और उनका निर्मल यश चन्द्रमा के समान शुभ्र है, अतः कवि द्वारा यह कल्पना की जाती है कि जब भी ब्रह्मा के मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि नल के तेज और यश के विद्यमान रहते हुए सूर्य और चन्द्र की स्थिति व्यर्थ है, तो वह वर्तुलाकार घेरा के बहाने से उन दोनों (सूर्य और चन्द्र) की निरर्थकता को सूचित करने के लिये उनके चारों ओर

घेरा बना दिया करते हैं।

सूर्य तथा चन्द्रमा के चारो ओर इस प्रकार के वर्त्तुलाकार घेरे का होना तो प्राकृतिक है, किन्तु इस प्रकृति का निषेध करके ब्रह्मा द्वारा अप्रकृत वर्त्तुलाकार घेरे की स्थापना करने से यहाँ अपहुति अलंकार है। इस प्रकार से राजा नल के प्रताप तथा यश को सूर्य और चन्द्र की अपेक्षा श्रेष्ठ समझकर सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा द्वारा सूर्य तथा चन्द्र को घेरकर उनकी व्यर्थता को स्वीकार करने रूप सम्भावना किये जाने की दृष्टि से यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है, जो कि व्यञ्जक के अभाव में गम्य है। साथ ही उपमेयभूत उसके तेज और यश का उपमानभूत सूर्य और चन्द्र से आधिक्य प्रतिपादित है, जो कि वाच्य न होकर गम्य है, अत: व्यतिरेक अलंकार भी गम्य है। इस प्रकार गम्य व्यतिरेक तथा वाच्य अपहुति अलंकारों का पर्यवसान व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा में हो रहा है, अत: यह अलंकार — ध्वनि का स्थल है।

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे?

तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः।। नै० १/२०

प्रस्तुत पद्य में महाकवि द्वारा राजा नल के अतिशय सौन्दर्य का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

''उस राजा नल के चरण ने कमलों के प्रति घृणा की अथवा दया की। आशय यह है कि कमल उनके चरणों की तुलना में नितान्त हेय थे। नूतन

किसलय में उस नल के हाथ की कान्ति का लेश भी नहीं था, जिस किसलय में राजा नल के हाथ की कान्ति का लेशमात्र अंश भी विद्यमान नहीं था वह किसलय इनके हाथ की शोभा की समता को कैसे प्राप्त कर सकता था? तथा शरत्कालीन पूर्णिमा का चन्द्रमा उस राजा नल के मुख के दासत्व का अधिकारी भी नहीं हुआ, फिर ऐसी स्थिति में उसकी समता का प्रश्न ही नहीं होता है, क्योंकि चन्द्रमा शरत्काल एवं पूर्णिमा के योग से रमणीयता को प्राप्त हुआ और वह भी केवल एक दिन के लिये ही। जबकि राजा नल का मुख स्वतः ही सदा के लिये रमणीय था।''

'अधरि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा' — इस स्थल पर असम्बन्ध में सम्बन्ध का कथन किये जाने से अतिशयोक्ति अलङ्कार है। यहाँ चरण द्वारा कमल के प्रति घृणा किये जाने का वर्णन है, जिसका चरण में होना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में उपमेय चरण, हाथ और मुख का उपमान कमल, पल्लव, तथा चन्द्रमा से श्रेष्ठता प्रदर्शित होने के कारण व्यङ्ग्य'व्यतिरेक अलङ्कार' का अधिक सुन्दर होने से यह अलङ्कार ध्वनि का स्थल है।

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद् विभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा।

जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेच्यत्।। नै० १/३६

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के प्रति दमयन्ती का अनुरागातिशय व्यक्त होता

है।

''मृत अथवा निर्निमेष नेत्रों वाले कामदेव से मैं डरती हूँ। अत: कोई अन्य उदाहरण प्रस्तुत करो'' ऐसा कहकर उस दमयन्ती ने युवा पुरुषों की प्रशंसा करती हुई (सखी) लोगों के द्वारा कामदेव के स्थान पर नल को अभिषिक्त कराया। दमयन्ती की सखियाँ सुन्दर युवा पुरुषों की प्रशंसा करती हुई उनकी उपमा कामदेव से किया करती थी, किन्तु दमयन्ती राजा नल के प्रति अनुराग रखने के कारण युवकों के वर्णन में उपमान रूप में राजा नल को अभिषिक्त करना चाहती थी।

प्रस्तुत पद्य में उपर्युक्त वाच्यार्थ द्वारा दमयन्ती का राजा नल के प्रति अनुरागातिशय व्यक्त होता है। इससे यहाँ भावोदय अलङ्कार प्रतीत होता है, तथा कामदेव देवता होने से निमेषशून्य हैं। उससे भयभीत होने से यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, तथा यह रस ध्वनि का स्थल है।

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया ह्रदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।

अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्यास्स महन्महीपति।। नै० १/४०

प्रस्तुत पद्य में निद्रा द्वारा राजा नल के दर्शन का वर्णन किया जा रहा है। यद्यपि दमयन्ती ने नल का साक्षात् दर्शन अभी तक नहीं किया था, फिर भी अपने प्रारब्ध कर्मों के परिणामस्वरूप वह स्वप्न में उनको देख लेती थी।

‘‘निद्रा से बन्द हुये दोनों नेत्रों से तथा वाह्य कर्ण आदि इन्द्रियों के अपने—अपने विषय (सुनना) आदि को ग्रहण करने में मौंन हो जाने से स्तब्ध अर्थात् शयन अवस्था में विषयों को ग्रहण न करते हुए हृदय से भी छिपाकर, कभी पहले न देखे गये हुए अतएव रहस्य रूप उस राजा नल का दर्शन दमयन्ती को कराया।

जिस प्रकार कोई चतुर दासी नायिका को अन्य लोगों से छिपा कर उसके प्रियतम को दिखला दिया करती है, उसी प्रकार से निद्रा ने भी जिनका दर्शन पहले कभी न किया जा सकता है, ऐसे राजा नल को दमयन्ती को दिखला दिया।

इस प्रकार यहाँ विशेषण के सामर्थ्य से यह अर्थ ध्वनित होता है कि निद्रा ने, नेत्रों तथा शेष बाह्य इन्द्रियों के मौन हो जाने पर हृदय से भी छिपाकर पहले कभी न देखे गये उस राजा नल का दर्शन दमयन्ती को कराया।

इस प्रकार इसमें रूपक अलंकार की प्रतीति हो रही है, और यह वस्तु ध्वनि का स्थल है।

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।

तपर्तुपूर्त्तावपि मेदसां विभावरीभिर्विभरांबभूविरे।। नै० १/४१

काम से पीड़ित उस दमयन्ती को हेमन्त ऋतु की रात्रियाँ भी बड़ी प्रतीत होने लगी। प्रस्तुत श्लोक का भावार्थ इस प्रकार है —

''यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उस दमयन्ती के लिये हेमन्त ॠतु में भी दिन बड़े प्रतीत होने लगे तथा ग्रीष्म ॠतु की पूर्णता होने पर भी रात्रि छोटी हो जाया करती है, इसी प्रकार विरह की अवस्था में अल्पकाल भी बहुत बड़ा प्रतीत होने लगता है। अत: नल के विरह का अनुभव करने वाली दमयन्ती को हेमन्त ॠतु सम्बन्धी दिन तथा ग्रीष्मकालीन रात्रियाँ अत्यधिक लम्बी प्रतीत हो रही थी।

उपर्युक्त श्लोक में हेमन्त ॠतु रूप कारण के रहते हुए भी 'दिनों का लघुत्व नहीं हुआ' तथा ''ग्रीष्म ॠतु रूप कारण के विद्यमान रहते हुए भी रात्रियों में लघुता का कथन'' न किये जाने से यहाँ विशेषोक्ति अलंकार व्यञ्जित होता है, अत: यह अलङ्कार ध्वनि का स्थल है।

अलं नलं रोद्धुमसी किलाभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम्।
स्मर: स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिर्सग ईदृश:।। नै० १/५४

राजा नल ने कामदेव को अपने शरीर शोभा से जीत लिया था, जिससे कामदेव उनका शत्रु बन गया था, और उसने उचित अवसर देखकर राजा नल को अपने पुष्पमय बाणों से सन्तप्त कर दिया, जिसके फलस्वरूप नल का धैर्य राजकुमारी दमयन्ती के गुणों को सुनकर ही नष्ट हो गया, और वे अत्यधिक कामपीड़ित हो गये।

''ये प्रसिद्ध विवेक आदि गुण राजा नल की चपलता को नहीं रोक सके, क्योंकि कामदेव रतिकाल में चपलता की ही सृष्टि करता है, यही सृष्टि का नियम है। अर्थात् रतिकाल में सभी चञ्चल हो जाते हैं अथवा – कामदेव 'रति' नाम की अपनी प्रिया में 'अनिरुद्ध' नामक पुत्र को ही उत्पन्न करता है, यही सृष्टि का नियम है।''

प्रस्तुत श्लोक में यह अर्थ ध्वनित होता है, कि विवेकादि गुण–सम्पन्न होने पर भी राजा नल दमयन्ती के विरह से उत्पन्न काम–पीड़ा के कारण अत्यधिक चञ्चल हो गये।

प्रस्तुत श्लोक में वर्णित वाक्यार्थ सामान्य का उत्तरार्ध में वर्णित वाक्यार्थ विशेष द्वारा समर्थन किये जाने से ''अर्न्थान्तरन्यास'' नामक अलंकार हैं और यह वस्तु ध्वनि का उदाहरण है।

तटान्त विश्रान्त तुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन यः।

बभौचलद्वीचिकशान्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन्।। नै० १/१०९

राजा नल अपने महल में काम–पीड़ा से संतप्त थे और वे इस उद्यान में विनोदार्थ आये थे। अतएव उद्यान में विद्यमान सभी चर, अचर पदार्थों और प्राणियों का कर्त्तव्य था कि वे उनका विनोद करें। किन्तु काम–पीड़ा से सन्तप्त वह राजा नल ने वन में भ्रमण करते हुये शुकों एवं सारिकाओं द्वारा स्तुत होने

पर भी केवल बाहरी आनन्द की अनुभूति की, किन्तु दमयन्ती विरह के कारण आन्तरिक आनन्द की अनुभूति वे न कर सके। राजा नल अपने उस उद्यान में विद्यमान क्रीडा सरोवर को समुद्र के समान देखा। अत: प्रस्तुत श्लोक में विशिष्ट सरोवर की विभिन्न विशेषताओं तथा शोभाओं का वर्णन महाकवि द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है —

''जो तालाब तीर पर स्थित (नील, श्वेत आदि विभिन्न प्रकार के) घोड़ों की कान्ति (शोभा) के प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध में चञ्चल तरङ्गरूपी कोड़ों के प्रहारों से मानों हजारों उच्चै:श्रवस् नामक घोड़ों को धारण किये हुये था।''

कोड़ों से आघातों के कारण घोड़े चञ्चल होकर चला करते हैं। पानी में प्रतिबिम्बित वस्तु के तरङ्गों द्वारा चञ्चल होने के कारण किनारे पर स्थित नल के घोड़ों के प्रतिबिम्ब पानी की लहरों रूपी कोड़ों की मार से चलते हुये अनेक उच्चै:श्रवस नामक घोड़ों के सदृश ज्ञात हो रहे थे। इस स्थल पर यह स्पष्ट रूप से ध्वनित हो रहा है कि समुद्र में तो उच्चैश्रवा: नामक एक ही घोड़ा है। किन्तु इस तालाब में अनेक उच्चै:श्रवस् नामक घोड़ों की विद्यमानता है। अत: यह तालाब समुद्र की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है, इसके अतिरिक्त राजा नल के घोड़ों का उच्चै:श्रवा के समान होना भी सूचित हो रहा है। अत: यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में नल के घोड़े का उच्चै:श्रवा नामक घोड़े से समानता प्रदर्शित होने से यह अलंकार द्वारा वस्तु ध्वनि का स्थल है।

के कपट से धारण कर रहा था।)

चञ्चोः चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं पल्लवितं च — इसका तात्पर्य है कि हंस की चोंच और चरण रक्तवर्ण के हुआ करते हैं। महाकवि ने चञ्चपुट और चरणद्वय का ''मिष'' शब्द से अपहव करके उसमें क्रमशः द्विपत्रित और पल्लवित राग रूपी वृक्ष के अंकुर की उत्प्रेक्षा की है। अतः यहाँ सङ्कर अलंकार है, तथा ''रागमहीरूहाङ्कुरम्'' में रूपक अलंकार तथा अपहुति अलंकारों की संस्सृष्टि विद्यमान है।

''बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितं च'' में यथासंख्य तथा अनुप्रास अलंकार है।

इस प्रकार यहाँ ''चञ्चुचरण'' के बहाने से विभिन्न प्रकार के अनुरागरूपी वृक्ष के अङ्कुर की उत्प्रेक्षा व्यञ्जित होने से यह अलंकार द्वारा अलंकार ध्वनि का स्थल है।

नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे।

अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम्।। नै० २/२३

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के नेत्रों की सुन्दरता का वर्णन करते हुये वह सुवर्णमय हंस राजा नल से कह रहा है —

''कमल को मलिन (सौन्दर्यहीन) करते हुए तथा मृगी का स्पर्श तक नहीं

करते हुए, अर्थात् अत्यन्तहीन मृगी नेत्र का दूर से ही परिहार करते हुए अञ्जनयुक्त दमयन्ती के नेत्र 'खञ्जरीट' नामक पक्षी को शोभाविषयक अभिमान में दरिद्र बना रहे हैं, अर्थात् दमयन्ती के नेत्रों की श्रेष्ठता से खञ्जरीट पक्षी का शोभा सम्बन्धी अभियान नष्ट हो जाता है।'' या श्यामवर्ण अर्थात् नीलकमल को दमयन्ती के नेत्र शोभा सम्बन्धी मद के विषय में दरिद्र बनाते हैं, और अञ्जन से शोभित दमयन्ती के नेत्र खञ्जरीट को शोभा सम्बन्धी मद के विषय में दरिद्र बनाते हैं।

इस प्रकार दमयन्ती के नेत्रों ने अपने नीलत्व गुण से कमल को, विशालत्व गुण से हरिणियों के नेत्रों को, और अञ्जनयुक्त होने पर कृष्ण — श्वेत गुण से 'खञ्जरीट' पक्षी को जीत लिया। यहाँ पर दमयन्ती के नेत्रों का नलिनादि के मलिनीकरण से सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध दिखाये जाने के कारण अतिशयोक्ति अलंकार हुआ तथा यहाँ उपमा अलङ्कार व्यञ्जित होने से यह अलङ्कार—ध्वनि का स्थल हुआ।

अधरं खलु बिम्बनामकं फलमस्मादिति भव्यमन्वयम्।

लभतेऽधरविम्बमित्यदः पदमस्या रदनच्छदं वदत्।। नै० २/२४

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के ओष्ठ की तुलना 'बिम्ब' फल से की गई है। (अधर बिम्ब के समान हैं, इस अर्थ में प्रयुज्यमान) ''अधरबिम्ब'' यह पद

इस दमयन्ती के ओष्ठ को कहता हुआ 'अधरं अपकृष्टं बिम्बम् अस्मात् (दमयन्त्या: रदनच्छदात्) इस प्रकार के अन्वय को प्राप्त करते हुए 'बिम्ब' नामक फल दमयन्ती के इन दोनों ओष्ठों से अधर अर्थात् हीन है, इस प्रकार का अर्थ प्रतिपादित करने लगता है।''

कवि के कहने का आशय यह है कि 'अधरबिम्ब' शब्द दमयन्ती के अधर के लिये प्रयुक्त होने पर उपमित समास वाला अर्थ न देकर बहुब्रिहे समास वाला अर्थ देने लगता है।

यहाँ पर दमयन्ती के ओष्ठों का 'बिम्ब फल' के अधरीकरण के साथ सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध दिखाया गया है। अत: यह पद्य असम्बन्धेऽपि सम्बन्ध रूपा अतिशयोक्ति का उदाहरण है, और अतिश्योक्ति अलंकार से व्यतिरेक अलंकार के व्यञ्जित होने से यह अलंकार ध्वनि का स्थल है।

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम्।। नै० २/२५

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के सौन्दर्य तथा गुणों का वर्णन हंस राजा नल से कर रहा है।

''जान पड़ता है, दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिये ब्रह्मा ने चन्द्रमा को निचोड़कर उसका सारा भाग खींच लिया है। इसी कारण बीच में छिद्र

हो जाने से उसके उस पार आकाश की नीलिमा दिखाई पड़ती है।''

प्रस्तुत पद्य में कलङ्क को छिपाते हुए आकाश की नीलिमा (उपमान) का आरोप किया गया है। इसीलिये 'अपह्नुति' अलंकार हुआ, यहाँ पर 'चन्द्रमा' के मध्य से आकाश की नीलिमा दिखाई पड़ने का कारण है, 'कृतमध्यबिलं' पद। अतः अपह्नुति का पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग पर आधारित है, और चन्द्रमा के मध्य बिल की कल्पना 'हृतसारमृइव' पद से व्यक्त उत्प्रेक्षा पर आधारित है।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा और काव्यलिङ्गानुप्राणित अपह्नुति का सङ्कर स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है, इस सङ्कर अलंकार से यहाँ पर दमयन्ती के मुख का चन्द्रतुल्य सौन्दर्य ध्वनित हो रहा है, अतः यहाँ उपमा अलंकार है।

न सुवर्णमयी तनुः परं ननु किं वागपि तावकी तथा।

न पर पथि पक्षपातिताऽनवलम्बे किमु माहशाऽपि सा।। नै० २/५२

दमयन्ती के विरह में व्याकुल राजा नल उपवन को जाते हुए एक तड़ाग में सुवर्ण पंख वाले हंस को देखकर आश्चर्यचकित और लोभित होकर हाथ से उस हंस को स्वयं पकड़ लेते हैं, तदन्तर हंस का करुण क्रन्दन सुनकर राजा नल उसे छोड़ देते हैं। छोड़े जाने पर वह हंस अत्यन्त हर्षित होकर राजा नल के गुणों को कहता हुआ राजा भीम की पुत्री दमयन्ती के सौन्दर्यादि गुणों का वर्णन करता हुआ कहता है कि दमयन्ती के पति रूप में आप ही श्रेष्ठ हैं, आगे वह हंस कहता है, कि वह दमयन्ती के समक्ष जाकर उनके सौन्दर्य और गुणों की प्रशंसा करेगा।

तत्पश्चात् राजा नल हंस की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि –

'हे हंस, केवल तुम्हारा शरीर ही सुवर्णमय (सोने का बना हुआ) नहीं है, अपितु वचन भी सुवर्णमय (सुन्दर अक्षरों से) बना हुआ है, तथा तुम केवल अवलम्बन रहित मार्ग अर्थात् आकाश में ही पक्षपाती (उड़ते समय पङ्खों को गिराने वाले) नहीं हो, किन्तु निरवलम्ब अर्थात् आधारविहीन मुझमें भी पक्षपाती हो, अर्थात् पक्षपात करने वाले हो।''

प्रस्तुत पद्य में सुवर्णमयी तथा पक्षपातिता शब्दों में शब्द श्लेष है, एवं अनवलम्ब में अर्थश्लेष है, अत: यहाँ दोनों अलंकारों की संसृष्टि की प्रतीति हो रही है, और उत्तरार्द्ध में आकाश और नल में साम्य व्यङ्ग्य की प्रतीति होने से यह अलंकार द्वारा अलंकार ध्वनि का स्थल है।

ब्रजते दिवी यद्गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडना:।
व्यतरन्नरुणाय विश्रमं सृजते हेलिहयाल्किालनाम्।। नै० २/८०

दमयन्ती के विरह से व्याकुल राजा नल अपने उद्यान में विचरण करते हुये एक सुवर्णमय हंस को देखते हैं, अत्यन्त सुन्दर होने के कारण राजा नल उस हंस को पकड़ लेते हैं, किन्तु हंस के विलाप करने से दयालुवश छोड़ देते हैं। तदुपरान्त वह हंस राजा से दमयन्ती के सौंदर्य और गुणों की प्रशंसा करता है। और कहता है कि आप ही राजकुमारी दमयन्ती के योग्य हैं यह सुनकर राजा नल

अत्यन्त कामपीड़ित होकर दमयन्ती से मिलने के लिये व्याकुल हो जाते हैं और वह हंस राजा नल के सौंदर्य और गुणों की प्रशंसा करके दमयन्ती के मन में राजा के प्रति अनुराग उत्पन्न करने कुण्डिनपुरी को जाता है। प्रस्तुत पद्य में कुण्डिनपुरी की विशेषताओं का वर्णन किया जा रहा है —

''जिस (कुण्डिनपुरी) की गृहपङ्क्तियों के चञ्चल पताकाग्र वस्त्ररूपी कोड़े के आघात, आकाश में गमन करते हुये सूर्य के घोड़ों को हांकते हुये अरूण के लिये विश्राम देते हैं।''

कहने का आशय यह है कि आकाश में गमन करता हुआ सूर्य सारथि अरूण सूर्य के घोड़ों का कोड़े से मारकर हाँकता है, किन्तु इस कुण्डिनपुरी के ऊँचे—ऊँचे महलों के ऊपर लगी हुयी पताकाओं के वस्त्राग्र वायु से चञ्चल होकर स्वयं घोड़ों को प्रेरित करते हैं, अर्थात् हांकते हैं, जिससे अरूण को उतने समय तक घोड़ों को नहीं हांकने के फलस्वरूप विश्राम मिल जाता है।

प्रस्तुत पद्य में सूर्य के रथ के घोड़ों का कुण्डिनपुरी स्थित महलों के पताकाग्र रूपी कोड़ों द्वारा हाँके जाने का सम्बन्ध न होने पर भी पताकाग्र रूपी कोड़ों द्वारा सूर्य के घोड़ों को हाँके जाने का सम्बन्ध दिखाया गया है। अतएव यहाँ 'असम्बन्धेऽपि सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति' अलंकार हुआ, जिससे महलों की सूर्यमण्डलपर्यन्त ऊँचाई रूप अर्थ व्यक्त होता है। अत: यह अलंकार से वस्तुध्वनि का स्थल है।

दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः।

कथमृच्छतु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम्।। नैषध० २/८२

कुण्डिनपुरी में राजभवन इन्दुमण्डलपर्यन्त ऊँचा है, फलस्वरूप मेघ उसके मध्यभाग में ही चक्कर लगाते रहते हैं, और चूने से पुते होने के कारण धवल स्वरूप वाले हैं, फलस्वरूप कवि उस राजभवन का वर्णन इस रूप में प्रस्तुत करता है —

''(मध्यभाग में) मेघों को धारण करने के कारण नीलकण्ठता को धारण करता हुआ, सुधावलिप्त होने के कारण उज्ज्वल शरीर को धारण करता हुआ तथा चन्द्रपर्यन्त शिखर वाला होने के कारण इन्दुमौलित्व को धारण करता हुआ यह राजभवन इन्दुमौलित्व (ईश्वरत्व) को प्राप्त कर रहा है।''

यहाँ इस पद में विशेष्य और विशेषण दोनों ही श्लिष्ट है, किन्तु अभिधा के प्रकृत अर्थ के नियन्त्रित हो जाने के कारण ईश्वरत्व की प्रतीति यहाँ पर व्यञ्जना—गम्य ही है। इस प्रकार यहॉ पर उपमा अलंकार व्यङ्ग्य है, और यह अलंकार ध्वनि का स्थल है।

स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तन्दानगुणान्निपीय।

हा हेति गायन् यदशोचि तेन नाम्नैव हाहा हरिगायनोऽभूत।। नै० ३/२७

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के प्रति दमयन्ती को आकृष्ट करने के लिये उनके गान—विद्या की प्रशंसा करता हुआ हंस दमयन्ती से कहता है —

''विनोदगोष्ठी में राजा नल के गाने के गुणों को अच्छी तरह सुनकर यहाँ मर्त्यलोक से स्वर्ग को गये हुए हम लोगों ने जो गाते हुए इन्द्र के गायक गन्धर्व के प्रति शोक प्रदर्शित करते हुए 'हा, हा', शब्द का प्रयोग किया अर्थात् राजा नल के गाने की तुलना में तुम्हारा गाना अत्यन्त तुच्छ है, इस अभिप्राय से जो 'हा, हा'? कहा। तो उस इन्द्र के गन्धर्व का नाम ही 'हाहा' पड़ गया''।

हंस के कहने का आशय यह है कि राजा नल गान—विद्या में इन्द्र के गायक गन्धर्व से भी बढ़कर हैं।

प्रस्तुत श्लोक में गन्धर्व 'हाहा' नाम के साथ शोकनिमित्तक 'हाहा' का कोई सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है, इसलिये यहाँ पर 'असम्बन्धेऽपि सम्बन्धरूपा' अतिशयोक्ति अलंकार हुआ, जिसके द्वारा राजा नल के गन्धर्वातिशायी मान रूप वस्तु की व्यञ्जना होती है। इसलिये यह अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

निलीमते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुतस्य मुखं मुखान्नः।

सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे।। नै० ३/३३

प्रस्तुत पद्य में सुवर्णमयी हंस राजा नल के प्रति दमयन्ती को आकृष्ट

करने के लिये उनके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहता है कि –

''हम लोगों के मुख से उस नल के मुख को स्वविजयी (चन्द्रमा को जीतने वाला) सुनकर लज्जा से विकल होकर वह चन्द्रमा किसी समय (अमावस्या तिथि) को सूर्य में, किसी समय (अस्त होने के समय में) समुद्र–प्रवाह में तथा किसी समय (वर्षा–ॠतु) में बादलों के बीच में छिप जाता है।''

(लोक में भी कोई दुर्बल व्यक्ति लज्जा से दु:खी होकर अपने विजयी के सामने नहीं होता और अलक्षित स्थान में छिपा करता है।)

इस वाच्यार्थ से यह अर्थ ध्वनित होता है कि चन्द्रमा का सूर्यादि में प्रवेश स्वाभाविक घटनायें हैं, किन्तु उनकी संभावना पराजयजन्य लज्जा के कारण 'निलीन होने' के अर्थ में की गई है, साथ ही उत्प्रेक्षा व्यञ्जक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, इसलिये यह (लज्जाजन्य निलीनत्व) रूप यह अर्थ गम्य है। अत: यहाँ वाच्यार्थ (जो कि वस्तुरूप है) से उत्प्रेक्षा अलंकार गम्य है, इस प्रकार यह वस्तु से अलंकार ध्वनि का स्थल है।

श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्यं तस्य स्मरामरेन्द्राविव न स्मराम:।
वासेन सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन् बुद्धौ न दध्म: खलु शेष बुद्धौ। नै० ३/३६

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के सौन्दर्यादि गुणों का वर्णन करते हुये हंस राजकुमारी दमयन्ती को आकृष्ट करने के उद्देश्य से कह रहा है कि –

''उस राजा नल की शरीर—शोभा तथा राज्यलक्ष्मी (ऐश्वर्य) को देखकर हमलोग कामदेव तथा देवेन्द्र का भी स्मरण नहीं करते हैं, तथा उस राजा नल मे पृथ्वी तथा क्षमा (तितिक्षा) के निवास करने से शेषनाग तथा बुद्ध को भी बुद्धि में नहीं लाते।''

इस वाच्यार्थ से ध्वनित होता है कि राजा नल शरीर शोभा में कामदेव से तथा राज ऐश्वर्य में इन्द्र से, एवं पृथ्वी भारवाहन में शेषनाग और क्षमा करने में बुद्ध भगवान से भी अधिक श्रेष्ठ हैं।

इस प्रकार सौन्दर्य आदि गुणों में कामदेव से भी बढ़कर राजा नल हैं। इससे यह अर्थ ध्वनित होने से यहाँ पर व्यतिरेक अलङ्कार है, और यह अलंकार ध्वनि का स्थल है। इस पद्य में श्लेष तथा यथासंख्य अलंकारों का सङ्कर है और उससे व्यतिरेक अलंकार ध्वनित हो रहा है। इस प्रकार यह स्थल अलंकार से अलंकारत्व ध्वनि का स्थल है।

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथ: कण्ठपथं कथं स:।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा।। नै० ३/५९

हंस नल के गुणों को कहता हुआ नल के प्रति दमयन्ती को आकृष्ट कराता हुआ दमयन्ती से कहता है कि हे दमयन्ती। तुम ही नल के योग्य हो, नल प्राप्ति तुम्हारे लिये असम्भव नहीं है। तीनों लोकों में तुम्हारे समान सुन्दर अन्य

कोई भी नहीं है, अतः यह सम्भव है कि नल के साथ तुम्हारा विवाह हो ही जावे, क्योंकि ब्रह्मा परस्पर योग्य स्त्री—पुरुष का समागम कराते है। अतः नल के साथ तुम्हारा समागम होना भी सम्भव है, ऐसा कहकर हंस नल में दमयन्ती का विशेष अनुराग बढ़ाने का प्रयन्त करते हुए दमयन्ती के मनोस्थिति को जानने की इच्छा से दमयन्ती से पुनः कहता है कि मैं तुम्हारा कौन सा मनोरथ को पूरा करूँ? इस पर दमयन्ती कहती है कि —

''जिस मनोरथ को मन नहीं छोड़ता वह कण्ठमार्ग तक कैसे आये? दमयन्ती के कहने का अभिप्राय यह है कि नल को वरण करने की इच्छा उसके मन में हर समय बनी रहती है, मन उस इच्छा को इतना दृढ़ता के साथ पकड़कर रखे है कि वह कण्ठ तक पहुँच ही नहीं सकती, अर्थात् दमयन्ती हृदयगत इच्छा को वाणी से व्यक्त नहीं कर सकती है, क्योंकि उसकी यह इच्छा असंभव है, उसी बात को लक्ष्यकर वह श्लोक का उत्तरार्द्ध प्रस्तुत करते हुये कहती है कि — ''कौन निर्लज्ज बाला चन्द्रमा को हाथ से पकड़ने की इच्छा को प्रकट करेगी', श्लेष की सहायता से यह दूसरा अर्थ निकल रहा है — हे पक्षि! 'कौन निर्लज्ज बाला राजा नल जैसे दुर्लभ जन के साथ पाणिग्रहण की अभिलाषा को दूसरों के समक्ष कहेगी'। उत्तरार्द्ध में श्लिष्ट इन दोनों अर्थों के बीच औपम्य व्यङ्ग्य है जिससे यह अर्थ निकलता है कि राजा नल को प्रतिरूप में प्राप्त करना उतना ही असम्भव है जितना हाथो से चन्द्रमा को पकड़ना। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार चन्द्रमा को हाथ से पकड़ने की इच्छा व्यक्त करने वाला व्यक्ति उपहास का पात्र

बनेगा, उसी प्रकार से राजा नल के साथ पाणिग्रहण की इच्छा व्यक्त करने वाली स्त्री भी उपहास का पात्र बनेगी।''

इस प्रकार इस श्लोक में श्लेष अलंकार से उपमा अलंकार व्यङ्ग्य है, अत: यह अलंकार से अलंकार ध्वनि का स्थल हुआ।

धन्याऽसि वैदर्भि! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।

इत: स्तुति: का खलु चन्द्रिका या यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।। नै० ३/११६

राजहंस राजा नल का संदेश लेकर दमयन्ती के पास आता है, और दमयन्ती की मनोस्थिति जानकर अत्यन्त हर्षित होता है। इसके बाद वह हँस राजा नल के कामपीड़ित अवस्था का वर्णन करते हुए एवं दमयन्ती की प्रशंसा करते हुए कहता है कि —

'हे दमयन्ती! तुम धन्य हो, जिस प्रकार तुमने अपने उदार गुणों से नल को भी आकृष्ट कर लिया, इससे अधिक प्रशंसा क्या है? जो चाँदनी अतिशय गंभीर समुद्र को चंचल करती है''। कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार अतिशय गंभीर समुद्र को भी चाँदनी चन्चल बना देती है, उसी प्रकार से हे दमयन्ती तुमने परम गंभीर नल को भी अपने सौन्दर्यादि गुणों से आकृष्ट कर लियां।

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में राजा नल का समुद्र के समान गंभीर तथा

दमयन्ती का चाँदनी के समान सुन्दर होना व्यञ्जित होता है। ''चन्द्रिका या यदाब्धिमपि'' में उपमा तथा दृष्टान्त अलंकार की प्रतीति हो रही है।

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में वैदर्भि रीति ध्वनित हो रही है और यह अलंकार द्वारा वस्तु ध्वनि का उदाहरण है।

ह्रदि विदर्भभुवं प्रहरन् शरै रतिपतिनिषधाधिपतेः कृते।

कृततदन्तरगस्वदृढ़व्यथः फलदनीतिरमूर्च्छदलं खलुः।। नै० ४/१९

राजा नल को बाण बनाकर कामदेव ने दमयन्ती के ह्रदय में प्रहार किया, वह नलरुप बाण दमयन्ती के ह्रदय में पहुँचकर बहुत पीड़ा देने लगा अर्थात् दमयन्ती नल के गुणों को सुनकर अत्यन्त कामपीडित हो गयी।

''निषधराज नल को लक्ष्यकर दमयन्ती के ह्रदय में बाणों से प्रहार कर दमयन्ती—ह्रदय स्थित अपने को ही अधिक व्यथित करने से दुर्नीति का फल पाने वाला कामदेव अत्यन्त मूर्छित हो गया।''

भाव यह है कि कामदेव को नल ने अपनी शरीर—शोभा से जीत लिया था, अतः वह कामदेव का शत्रु बन गया। दमयन्ती के ह्रदय में स्थित नल को लक्ष्यकर दमयन्ती के ह्रदय में बाणों से प्रहार करने वाला कामदेव वहाॅ स्वयं भी स्थित होने के कारण स्वयं ही बहुत घायल होकर मूर्छित हो गया, यह उसने अपनी दुर्नीति का फल पाया। नल को मारने के लिए दमयन्ती के ह्रदय में प्रहार

करना भरी दुर्नीति है, क्योंकि शत्रु को छोडकर दूसरे पर प्रहार करना अनुचित है, अतएव अपनी इस दुर्नीति का फल कामदेव को स्वयं भेगना पडा।

उक्त वाच्यार्थ से यह अर्थ ध्वनित हो रहा है कि राजा नल कामदेव से भी अधिक सुन्दर थे, इसलिए कामदेव उनका शत्रु बन गया था।

''परप्रहार उद्यत'' होने पर ''स्वप्रहाररुप अनर्थ'' की उत्पत्ति होने रुप विषम भेद की व्यञ्जना हो रही है, और यहाँ श्लेषालंकार की उत्पत्ति हो रही है। अत: यह वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

हित्वैव वर्त्मैकमिह भ्रमन्त्या: स्पर्श: स्त्रिया: सुत्यज: इत्यवेत्य।
चतुष्पथस्याभरणं बभूव लोकावलोकाय सतां स दीप:।। नै० ६/२४

इन्द्रादि देवों के लिये दूतकर्म करने वाले राजा नल के अन्त:पुर पहुँचने पर, दूतकर्म स्वीकार करने से दमयन्ती के विषय में निराश होने गर शान्त विरह को कामदेव ने पुन: बढ़ाया। कामदेव के बाण छोड़ने पर भी नल के चित्त में कोई विकार नहीं होने से यद्यपि बाण को व्यर्थ होना चाहिए था, किन्तु मुख्य लक्ष्य पूर्ण नहीं होने पर भी नल के धैर्य की पूजा में पुष्परुप वे बाण चरितार्थ हो गये, अर्थात् जैसे कोई व्यक्ति किसी के धैर्य आदि गुण की पूजा करने के लिये पुष्प चढ़ाता है, वैसे ही कामदेव के वे पुष्परुप बाण भी परस्पर अनुरागोत्पादन रुप मुख्य प्रयोजन के पूर्ण न होने पर भी उस नल के धैर्य की पूजा रुप अन्य प्रयोजन में

सफल हो गये।

''सज्जनों के प्रकाशक द्वीप रुप वह नल 'इस संकार्ण मार्ग को छोडकर ही यहाँ अन्त:पुर में घूमती हुई स्त्री का स्पर्श सरलता से छूट सकता है', ऐसा समझकर लोगों को देखने के लिये चौरास्ते के भूषण बने''।

राजा नल ने सोचा कि स्त्रियाँ यहॉ पर इधर—उधर आती—जाती रहती है, अत: इस संकीर्ण रास्ते को छोडकर यदि मैं चौरास्ते पर खडा हो जाता हूॅ तो किसी स्त्री का स्पर्श न होने से मुझे परस्त्री स्पर्श—जन्य दोष नहीं लगेगा।

अत: प्रस्तुत वाच्यार्थ से यह अर्थ धवनित होता है, कि जिस प्रकार चौरास्ते पर रख हुआ दीपक आने जाने वालों के लिये वहाँ पर स्थित सब पदार्थो को प्रकाशित करता हुआ उस चौराहे की शोभा बढ़ाता है, उसी प्रकार राजा नल अन्त:पुर के लोगों को देखने के लिये चौरास्ते पर खडे होकर वहाँ की शोभा बढ़ाने लगे। अत: प्रस्तुत श्लोक वस्तुध्वनि का स्थल है।

एतं नलं तं दमयन्ती! पश्य त्यजार्तिमित्यालिकुलप्रबोधान्।
श्रुत्वा स नारीकरवर्तिशारीमुखात् स्वमाशङ्कत यत्र दृष्टम्।। नै० ६/६०

इन्द्रादि देवों के दूतकर्म स्वीकार करने के बाद राजा नल कुण्डिनपुरी में पहुँचते ही इन्द्र द्वारा दिये हुए वरदान से अदृश्य हो गये और कुण्डिनपुर में घूमते—घूमते थक जाने पर राजकुमारी दमयन्ती के निवास स्थान को प्राप्त किया,

तथा वहाँ पर सैकड़ों सखियों के द्वारा श्रृंगार भाव युक्त विलास से कामदेव के अन्तःपुर के भ्रम को पैदा करती हुई दमयन्ती की सभा को देखा, अर्थात् दमयन्ती की सखियों की रति के समान सुन्दरी होने से राजा नल को कामदेव के अन्तःपुर का भ्रम हुआ।

"वहाँ पर नल ने सखी के हाथ पर बैठी हुई मैना के मुख से "हे दमयन्ती इस नल को देखो, और अपने विरह पीड़ा को छोड़ दो" इस प्रकार से (दमयन्ती के प्रति कहे गये आश्वासन वचनों को सुनकर) 'इन लोगों ने हमको देख लिया क्या'? ऐसी आशंका की।"

इस प्रकार राजा नल ने सोचा कि यदि इन लोगों ने मुझे देखा नहीं होता तो ये सारिका को ऐसा क्यों पढ़ाती? अथवा मैना के वचन को ही नल ने साक्षात् सखी का वचन समझकर वैसी आशंका की।

इस प्रकार यहाँ भ्रान्तिमान अलंकार के व्यञ्जित होने से यह वस्तु द्वारा अलंकार ध्वनि का स्थल है।

भैमीविनोदाय मुदा सखीभिस्तदाकृतीनां भुवि कल्पितानाम्।
नातर्कि मध्ये स्फुटमप्युदीतं यस्यानुबिम्बं मणिवेदिकायाम्।। नै० ६/७४

स्वयंवर में आये हुये अन्य राजाओं तथा देवताओं के साथ राजा नल भी आये, और दमयन्ती के सौन्दर्य को देखकर आश्चर्यचकित रह गये।

''दमयन्ती के मन बहलाने के लिये भूमि पर बनाये गये नल के चित्रों के बीच में, मणिमय फर्श पर सचमुच प्रतिबिम्बित नल की छाया (परछायीं) को भी सखियों ने नहीं लक्ष्य किया।''

सखियों ने दमयन्ती के मन को बहलाने के लिए नल के अनेक चित्र बनाये थे, तथा नल के प्रतिबिम्बत शरीर को भी बिल्कुल समानाकार होने से उसे भी चित्र ही समझा।

दमयन्ती के मनोविनोद के लिये सखियों ने नल के चित्र मणिमय फर्शों पर बनाये थे।

इस प्रकार यहाँ सामान्य अलंकार के व्यञ्जित होने से यह अलेकार द्वारा अलंकार ध्वनि का स्थल है।

दिवारजन्यो रविसोमभीते चन्द्राम्बुजे निक्षिपतः स्वलक्ष्मीम्।

अस्या यदास्ये न तदा तयोः श्रीरकश्रियेद तु कदा न कान्तम्।। नै० ७/५५

इन्द्र को वरण करने की इच्छा से स्वर्ग से भूलोक में आई हुयी इन्द्र—दूती दमयन्ती के मुख से राजा नल को वरण करने की बात सुनकर वापस स्वर्गलोक चले जाने के बाद राजा नल का मनोरथ, प्रिया दमयन्ती को पाने के लिये परिशीलन करने लगा, अर्थात् दमयन्ती की प्राप्ति न होने पर भी केवल उसको देखते रहने से ही नल को दमयन्ती की प्राप्ति का आनन्द हुआ।

"दिन में सूर्य के भय से चन्द्रमा ने तथा रात्रि में चन्द्रमा के भय से कमल ने जब अपनी कान्ती दमयन्ती के मुखमण्डल में स्थापित कर दी तो उस समय उनमें (दिन में चन्द्रमा तथा रात्रि में कमल में) कोई शोभा न रही, किन्तु दोनों में से एक न एक की शोभा से युक्त यह मुखमण्डल कब रमणीय नहीं रहता? अर्थात् सदैव सुन्दर रहता है।" नित्य शोभा—सम्पन्न होने से चन्द्रमा तथा कमल की अपेक्षा दमयन्ती का मुख अधिक सुन्दर है।

यहाँ दिन में सूर्य के भय से चन्द्रमा ने, रात्रि में चन्द्रमा के भय से कमल ने, दमयन्ती के मुखमण्डल में अपनी—अपनी कान्ती स्थापित कर दी। इस प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कारों की संस्सृष्टि के द्वारा यह अर्थ ध्वनित होता है, कि चन्द्र और कमल में तो कभी—कभी ही शोभा रहती है, किन्तु दमयन्ती का मुख सदा सुशोभित रहता है।

इस प्रकार यहाँ उपमेय मुख का उपमा चन्द्र तथा कमल से आधिक्य व्यञ्जित होने के कारण व्यङ्ग्य व्यतिरेक अलंकार के अधिक सुन्दर होने से यह अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण है।

वियोगबाष्पाञ्जितनेत्रपद्मच्छद्मान्वितात्सर्गपयः प्रसूनौ।
कर्णौ किमस्या रतितत्पतिभ्या निवेद्यपूपौ विधिशिल्पमीदृक्।। नै० ७/६१

प्रस्तुत पद्य में राजा नल दमयन्ती की सुन्दरता का वर्णन करते हुए कहते

हैं कि—

'' विरहजन्य आँसू से सुशोभित नेत्ररुप पद्म के बहाने से दिये गये जल तथा पुष्पसहित, दमयन्ती के कान कामदेव तथा रति रुप देवद्वय के लिये समर्पण करने अर्थात् चढ़ाने योग्य दो मालपूआ रुप है, ऐसा ब्रह्मा ने बनाया है क्या?''

(किसी देवता को प्रसन्न करने के लिये मालपुआ नैवेद्यरुप में चढ़ाया जाता है, उसके साथ पूजन में जल तथा पुष्प का होना भी आवश्यक है। यहाँ पर ब्रह्मा ने दमयन्ती के कानों को कामदेव तथा रति रुप देवद्वय के लिये समर्पण करने योग्य दो मालपुए बनाये हैं, तथा उसके साथ जलस्थानीय विरहजन्य ऑसू तथा पुष्प स्थानीय नेत्रकमल हैं। इस प्रकार दम्पत्ति को पूजन द्वारा प्रसन्न करने के लिए सब पूजनद्रव्यों को ब्रह्मा ने एकत्रित किया है।)

विरहजन्य आँसू रुपी जल तथा नेत्ररूपी पुष्प, अमयन्ती के कान कामदेव दमपत्ति को पूजन द्वारा प्रसन्न करने के लिये नैवेद्य रूप में चढ़ाने की उत्प्रेक्षा करने से यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

नेत्ररूपी पुष्प और विरहजन्य आँसूरूपी जल की कल्पना कानों के सौन्दर्य को व्यञ्जित करते हैं। इस प्रकार यहाँ वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

स्निग्धत्वमायाजललेपलोप सयत्नरत्नांशुमृजांशुकाभाम्।

नेपथ्यहीरद्युतिवारिवत्ति स्वच्छायसच्छायनिजालिलाम्।। नै० १०/९४

राजा भीम ने भिन्न—भिन्न दिशाओं से राजाओं को आकृष्ट करने के कौतूहल में मन्त्रादि द्वारा सिद्ध विद्यारुपा अर्थात् अपने सौन्दर्य के द्वारा विभिन्न दिशाओं से राजाओं को आकृष्ट करने में मन्त्रसिद्ध विद्या के समान अपनी पुत्री दमयन्ती को महाराजाओं के बीच में बुलाया।

''चिकनाहट कृत्रिम तेल तथा लेप के अभाव में प्रयत्नशील रत्नों की विशुद्ध किरण के समान वस्त्रवाली और भूषणों के हीराओं की कान्ती रुपी जल के मध्यगत (प्रतिबिम्बित) समान कान्तिवाली सखियों के समूह वाली दमयन्ती को कटाक्षों से राजसमूह ने देखा''।

दमयन्ती के वस्त्र की चिकनाहट, कृत्रिम जल तथा लेप के बिना ही रत्नप्रभा के समान सुशोभित हो रही थी, और भूषणों में जड़े हुये हीराओं में दमयन्ती के ही समान सौन्दर्य वाली सखियों के समूह का उसी प्रकार प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, जिस प्रकार से स्वच्छ जल में स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। अत: ऐसे सौन्दर्य वाली दमयन्ती को राजसमूह ने देखा।

यहाँ दमयन्ती के आभूषणों में जड़े हुए हीराओं में सखियों के समूह का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, इस प्रकार की उत्प्रेक्षा की गई है। इससे यह ध्वनित होता होता है कि दमयन्ती के ही समान सखियाँ भी सौन्दर्यवान थी; अत: यहाँ वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

शाक: शुकच्छदसमच्छविपत्रमालभारी हरिष्यति तरुस्तव तत्र चित्तम्।

यत्पल्लवौघपरिरम्भविजृम्भितेन ख्याता जगत्सु हरितो हरित: स्फुरन्ति।।

नै० ११/३८

स्वयंर में आये हुए शाकद्वीप के शासक 'हव्य' नाम से प्रसिद्ध इस राजा का परिचय देते हुए सरस्वती जी दमयन्ती से उसकी प्रशंसा करते हुए कहती हैं कि —

'' जिस शाकद्वीप में तोते के पंख के समान कान्तिवाले पत्रसमूह को धारण करने वाला 'शाक' नामक वृक्ष तुम्हारे चित्त को आकृष्ट करेगा। जिस ('शाक' वृक्ष) के पत्तों के सम्बन्ध में विस्तार से हरे वर्णवाली बनी हुई दिशाएँ संसार में ('हरित्') ऐसे अन्वर्थ नामवाली प्रसिद्ध हो गयी हैं।''

(ऐसे प्रसिद्ध 'शाक' वृक्ष को देखकर तुम्हारा चित्त आकृष्ट हो जायेगा, अतएव इस राजा को वरण करके उस 'शाक' वृक्ष को देखने का सुअवसर मत छोड़ो।)

'शाक:' शब्द से 'शाकद्वीप' का 'शाक' नामक वृक्ष से सम्बन्ध न होने पर 'असम्बन्धेऽपि सम्बन्धरुपा' अर्थ की प्रतीति होने पर यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है, और 'शाकद्वीप' से 'शाक' वृक्ष की ख्याति व्यञ्जित होने से यह अलंकार द्वारा वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

सूरं न सौर इव नेन्दुमवेक्ष्य तस्मिन् अश्नाति यस्तदितरत्रिदशानभिज्ञः।

तस्यैन्दवस्य भवदास्यनिरीक्षयैव दर्शेऽश्नतोऽपि न भवत्ववकीर्णिभाव।।

नै ११/७६

दमयन्ती के स्वयंवर में आयी हुई सरस्वती देवी राजकुमारी दमयन्ती से उस प्लक्ष वृक्ष से युक्त द्वीप अर्थात् 'प्लक्षद्वीप' पर शासन करने वाले 'मेघातिथि' नामक राजा की विशेषताओं का वर्णन करके उनको वरण करने का आग्रह कर रही हैं। इस श्लोक में राजा मेघातिथि की तुलना चन्द्रमा से की गई है।

प्रस्तुत श्लोक का भावार्थ इस प्रकार है– ''उस 'प्लक्षद्वीप' से उस (चन्द्र) भिन्न देवता का अनिभिज्ञ अर्थात् चनद्रमा के अतिरिक्त दूसरे देवता की भक्ति नहीं करने वाला चन्द्रभक्त जो व्यक्ति, सूर्यदेव को बिना देखे भोजन न करने वाला सूर्य भक्त के समान, चन्द्रमा को बिना देखे भेजन नहीं करता है, तुम्हारे मुख को देखने से ही अमावस्या में भी भोजन करते हुए उस चन्द्रभक्त (व्यक्ति) का व्रतभंङ्ग न होवे''।

तुम्हारा मुख ही चन्द्रमा है, अतएव अमावस्या में उसे देखकर भोजन करने पर भी सूर्य को देखकर भोजन करने वाले सूर्यभक्त व्यक्ति के समान, चन्द्रमा को देखकर ही भोजन करने वाले चन्द्रभक्त का व्रतभंङ्ग नहीं होगा, अर्थात् कोई दोष नहीं होगा। अतः हे राजन् तुम्हारा मुख साक्षात् चन्द्ररुप है।

इस प्रकार उस राजा के मुख में चन्द्रमा का भ्रम उत्पन्न होने से यहाँ

भ्रान्तिमान अलंकार व्यञ्जित हो रहा है। अतः प्रस्तुत श्लोक वस्तु द्वारा अलंकार —ध्वनि का स्थल है।

बैरिश्रियं प्रति नियुद्धमनाप्नुवम् यः किञ्चिन्न तृप्यति धरावलयैकवीरः।
स त्वामवाप्य निपतन्मदनेंषुवृन्दस्यन्दीनि तृप्यतु मधूनि पिबान्निवायम्।।

नै ११/१११

राजकुमारी दमयन्ती के स्वयंवर में आई हुयी सरस्वती देवी (राजा नल तथा दूसरे राजाओं के गुणों के तारतम्य को जानने में) निपुण दमयन्ती से मथुरापुरी के राजा 'पृथु' के विशेषताओं का वर्णन करते हुये उसको वरण करने को कहती हैं।

''पृथ्वी में प्रधान वीर जो ('पृथु' राजा) शत्रुलक्ष्मी को लक्ष्यकर बाहुयुद्ध को नहीं पाता हुआ थोड़ा भी सन्तुष्ट नहीं होता है (इसके भय से शत्रुलोग बिना युद्ध किये हुए ही अपनी लक्ष्मी को समर्पित कर देते हैं, अतएव युद्ध का अवसर नहीं मिलने से इस वीर राजा को पूर्ण संतोष नहीं होता), वह बाहुयुद्धप्रिय राजा तुम्हें पाकर गिरते हुये कामबाणों (पुष्पों) के समूहों से बहते हुये मकरन्दों (पुष्प परागरुप मद्य) का पान करता हुआ संतुष्ट होवें।''

यहाँ कामबाणरुपी पुष्पों में मद्यपान की उत्प्रेक्षा की गई है। जिस प्रकार अभीष्ट वस्तु के नहीं मिलने से असंतुष्ट व्यक्ति मद्यपान कर असंतोषजनक

विषय भूल जाने से संतोष का अनुभव करता है, उसी प्रकार राजकुमारी दमयन्ती को प्राप्तकर वह पृथु राजा अत्यन्त आनन्द का अनुभव करेगा, यह अर्थ ध्वनित हो रहा है। अतः यह अलंकार वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

> हित्वा दैत्यरिपोरुरः स्वभवनं शून्यत्वदोषस्फुटा—
> सीदन्मर्कटकीटकृत्रिमसितच्छत्रीभवत्कौस्तुभम्।
> उज्झित्वा निजसद्म पद्ममपि तद्व्यक्तावनद्धीकृतं
> लूतातन्तुभिरन्तरद्य भुजयोः श्रीरस्य विश्राम्यति।। नै० १२/३७

''आज लक्ष्मीरहित होने से स्पष्ट रुप से स्थिर होते हुये मकड़ी के जाले के बने श्वेतच्छत्र के समान कौस्तुभ मणिवाले विष्णु के हृदय, तथा मकड़ियों के जालों से स्पष्ट रुप से बँधे हुये कमल — इन दोनों घरों को छोड़कर इस 'काञ्चीपति' की बाँहों में विश्राम कर रही हैं।''

प्रकृति में लक्ष्मी ने विष्णु के हृदयगत अपने प्रथम निवास स्थान को छोड़ दिया अतएव वहाँ कौस्तुभमणि के किरण श्वेतच्छत्राकार हो रहे हैं, उन्हें मकड़ी का जाला माना गया है; तथा द्वितीय निवास स्थान कमल को लक्ष्मी ने छोड़ दिया है, वहाँ कमल में प्राकृतिक रुप से रहने वाले तन्तु को मकड़ी का जाला माना गया है। जिस स्थान को वहाँ कर रहने वाला छोड़कर चला जाता है, वह स्थान मकड़ी के जालों से भर जाता है। यह अनुभव सिद्ध बात है।

प्रस्तुत पद्य में लक्ष्मी का क्रम से अनेक वस्तु के साथ सम्बन्ध होने से यहॉ पर्याय अलंकार है।

विष्णु के हृदय तथा कमल का लक्ष्मी द्वारा त्याग करने से इस राजा का महाप्रतापी होना व्यक्तकर सरस्वती देवी ने दमयन्ती से उसका वरण करने का संकेत दिया है; अत: यहाँ वस्तु के व्यञ्जित होने से यह वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

नृप: कराभ्यामुदतोलयान्निजे नृपानयं यान् पतत: पदद्वये।

तदीयचूडाकुरुविन्दरश्मिभि: स्फुटेयमेतत्करपादरञ्जना।। नै० १२/८०

स्वयंवर में आये हुए राजा का परिचय देते सरस्वती कहती हैं कि कामदेव के समान इस उत्कल नरेश का वरण तुम्हें करना चाहिये और उस राजा के गुणों का वर्णन करते हुए कहती हैं, कि —

''इस राजा ने अपने दोनों चरणों पर (प्रणाम करने के समय में) गिरते हुए राजाओ के मस्तकों को जो अपने दोनो हाथों से उठाया, उन विनम्र राजाओं के मुकुट के माणिक्यों की किरणों से ही इस राजा के हाथ पैर में यह लालिमा स्पष्ट रुप से दिख रही है।''

वस्तुत: सन्दर्भित राजा के हाथों और पैरों में स्वाभाविक लालिमा है। किन्तु उस लालिमा को कवि ने चरणावनत राजाओं के मुकुटगत मणियों के मयूखों (किरणों) द्वारा रञ्जनजनित होने की उत्प्रक्षा की है, अत: यहाँ पर उत्प्रेक्षा अलङ्कार

है, और उत्पेक्षा से इस प्रकार का वस्तुरुप अर्थ ध्वनित हो रहा है कि वह राजा अनेक राजाओं पर विजय प्राप्त कर चुका था। इस प्रकार का वस्तुरुप अर्थ ध्वनित होने से यह अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

> प्रागेतद्वपुरामुखेन्दु सृजत: स्रष्टु: समग्रस्त्विषां
>
> कोशः शोषमगाद्गाधजगति शिल्पेऽप्यनल्पायितः।
>
> नि:शेषद्युतिमण्डलव्ययवशादीषल्लभैरेष वा
>
> शेष: केशमय: किमन्धतमसां स्तोमैस्ततो निर्मित:।। नै० १२/ ९३

स्वयंवर में आये हुये मगध नरेश के पराक्रम का वर्णन करने के उपरान्त उनके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए सरस्वती दमयन्ती से कह रही हैं —

''पहले (सृष्टि के आरम्भ में) मुखपर्यन्त इस राजा के शरीर की रचना किये हुये ब्रह्मा का, सम्पूर्ण पृथ्वी अर्थात् संसार की रचना में भी कम नहीं पड़ा हुआ समस्त कान्तियों का कोष समाप्त हो गया, तब ब्रह्मा ने सम्पूर्ण कान्ति—समूह के व्यय हो जाने से सरलता से मिलने योग्य गाढ़ अन्धकार समूहों से बॉकी केश—समूह को रचा है क्या?'' (लोक में भी उत्तम वस्तु के समाप्त हो जाने पर सरलता से प्राप्य सामान्य वस्तुओं से भी शेष कार्य पूरा किया जाता है।) इस राजा के पैर से लेकर मुख तक समस्त अङ्ग अत्यन्त गौरवर्ण तथा केश अत्यन्त काले हैं।

इस श्लोक में कवि ने इस प्रकार की उत्प्रेक्षा की है कि इस राजा के मुखपर्यन्त शरीर की रचना समस्त कान्तियों के कोष से की गई है; तथा केशों की रचना गाढ़—अन्धकार समूह से की गई है। इस उत्प्रेक्षा से राजा का लोकातिशय तेज व्यक्त होता है, अत: यह अलंकार में वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

चतुर्थ अध्याय

'नैषधीयचरितम्' में गुणीभूतव्यङ्ग्य

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का स्वरुप :- ''गुणीभूतव्यङ्ग्य'' इस काव्य विधा का उसके जन्मदाता श्री मदानन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में इस प्रकार लक्षण दिये हैं —

''प्रकारोऽयो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।

यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत्''।। ध्व० तृ० ३/३४

प्रस्तुत कारिका में ध्वनिकार ने स्पष्ट रुप से इस काव्य भेद को ''दूसरे काव्य भेद'' के रुप में वर्णित किया है, यह नहीं कहा है कि यह ''मध्यम'' या ध्वनिकाव्य की अपेक्षा ''निकृष्ट काव्य'' है।

ध्वनिकार गुणीभूतव्यङ्ग्य — काव्य का स्वरुप स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि ''जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न हो वरन् व्यङ्ग्यार्थ वाच्चार्थ के साथ अन्वित हो, व्यङ्ग्यार्थ के अन्वय के कारण वाच्य चारुता ही अधिक प्रकृष्ट हो, वह गुणीभूत—व्यङ्ग्य नामक काव्य का दूसरा प्रकार दिखाई पड़ता है।''

प्रस्तुत कारिका में प्रयुक्त ''व्यङ्ग्यान्वये'' पद का तात्पर्य है कि ''जहाँ व्यङ्ग्य के सन्निवेश के कारण वाच्चार्थ अधिक एवं प्रधानरुपेण चारुत्वस्थानी होता है, वहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर वाच्यार्थ का उपस्कार होता है''।[१] अर्थात्

---

१. अभूत तद्भावेच्विः। गुण + भू + च्विः = गुणीभूत।

स्वयं अप्रधान होकर वाच्य के सौन्दर्य में वृद्धि करता है और इस प्रकार स्वयं उपकार्य न होकर ''उपकारक'' बन जाता है।

ध्वनिकारक ने व्यङ्ग्यार्थ के विषय में कहा है कि, जहाँ भी व्यङ्ग्यार्थ होता है, वहाँ स्वयं तो सुशोभित होता ही है, तथा वाच्यार्थ को भी सुशोभित करता हुआ काव्यात्मा बन जाता है, क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ सदैव प्रधान होता है। ''जिस काव्य में प्रधान व्यङ्ग्यार्थ गौण बना दिया जाता है, उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य कहते है''। इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिए यहाँ ''गुण'' शब्द के अनन्तर ''च्वि: प्रत्यय'' प्रयुक्त किया गया है।[१]

इस प्रकार ध्वनिकार का यह आशय है क्रि ''प्रधान रुप से वाच्यार्थ की चारुता का प्रकर्ष होने के कारण, व्यङ्ग्यार्थ के गुणी भाव हो जाने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य'' प्रकार होता है।[२] आनन्दवर्धनाचार्य ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक में कहीं भी ''उत्तम'' या ''मध्यम'' काव्य पद का प्रयाग नहीं किया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में दोनों काव्य—भेद उच्चकोटि के एवं सहृदय—श्लाघ्य हैं।

ध्वनिकाव्य के विषय में उन्होंने कहा है कि महाकवियों की वाणी रसध्वनि इत्यादि रुप प्रतीयमान अर्थ को स्वयं ही प्रवाहित करने वाला होता है, उसी को

---

१. अभूत तद्भावेच्वि:। गुण + भू + च्वि: = गुणीभूत:।

२. तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्य प्रभेद: प्रकत्प्येत्।

ध्व०तृ०उ०पृ० १२३

महाकवित्व की संज्ञा प्राप्त होती है।[१] गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल पर भी वे स्पष्ट करते हैं कि यदि कविगण व्यङ्ग्यार्थ को गुणीभूत रुप में भी निबद्ध करते है, तब भी यह व्यङ्ग्य कविवाणी को पवित्र करता है, अर्थात गुणीभूतव्यङ्ग्य का भी इतना अधिक महत्व है कि उसका अपने काव्य में वर्णन करने से कवि को प्रसिद्धि प्राप्त होती है।

ध्वनिकार यह मानते हैं कि व्यङ्ग्यार्थ तीन प्रकार के होते हैं— वस्तु रुप, अलंकार रुप और रसादिरुप, यहाँ आदि पद से भाव भावाभास, भावशबलता एवं भावसन्धि का ग्रहण होता है। व्यङ्ग्यार्थ इन तीनों रुपों में वाच्यार्थ से सवर्था भिन्न प्रकार का होता है।

काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की जिस रुप में प्रधानता होती है वहाँ वही ध्वनि होती है जैसे — वस्तु—ध्वनि, अलंकार ध्वनि एवं रसादि ध्वनि। व्यङ्ग्यार्थ के उपर्युक्त तीनों प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य का रुप भी धारण करते हैं, परन्तु गुणीभूत भी व्यङ्ग्य वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होकर सुशोभित होता है, परन्तु प्रत्येक गुणीभूत व्यङ्ग्य प्रकार वाच्य से सर्वथा भिन्न होता है। इस प्रकार वस्तुव्यङ्ग्य के समस्त भेद, अलंकार—व्यङ्ग्य के समस्त भेद एवं रसादि—व्यङ्ग्य के समस्त भेद, काव्य में तिरस्कृत वाच्यार्थ के कारण प्रतीयमान होकर जब वाच्यार्थ की उपेक्षा अप्रधान गौण हो जाते हैं, तब वह गुणीभूतव्यङ्ग्य

---

१. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःस्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
आलोकसामान्यभिव्यनाक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।। ध्व०प्र०उ० १/६

काव्य का रुप धारण करते हैं।[1]

प्रतीयमान अर्थ के अतिशय के आधार पर ही मम्मट ने काव्य के तीन भेद किये हैं, '' जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अतिशयित नहीं होता, अर्थात् वाच्य अर्थ का चारुत्व अधिक है, या दोनों अर्थो का चारुत्व समान है, वह मध्यम गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य है।[2] पण्डित राज—जगन्नाथ के अनुसार ''जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ अप्रधान रहकर ही चमत्कार को उत्पन्न करता है, वह दूसरा उत्तम गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य है।'' विश्वनाथ ने भी काव्य के भेद प्रतिपादित करने में आनन्दवर्धन का अनुकरण करते हुए प्रतीयमान अर्थ को आधार बनाया उनके अनुसार ''उत्तम काव्य वह है, जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्ष अतिशयित होता है'', दूसरा काव्य गुणीभूत व्यङ्ग्य है, ''जहॉ कि व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी नहीं''।[3] विश्वनाथ ने काव्य के दो ही भेद स्वीकार किये है— ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य। विश्वनाथ के अनुसार वह काव्य है, जो रसात्मक है।[4] परन्तु ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य, इन दोनों प्रकार

---

१. (अ) तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्स्य तिरस्कृतवाचेभ्य: प्रतीयमानस्य
कदाचिद्वाच्यरुपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूत—व्यङ्ग्यता। ध्व०तृ०उ०पृ० १२३
(ब) व्यङ्ग्यं वस्त्वादित्रयं तत्र वस्तुनो व्यङ्ग्यस्य ये भेदा
उक्तास्तेषां क्रमेण गुणभावं दर्शयति। लो०तृ०उ०पृ० १२३

२. अताहशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।। काव्य प्र० १/५

३. अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादुत्तमे व्यङ्ग्ये । सा०द० ४/१३

४. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।। सा०द० १/३

के काव्यों में रस के व्यङ्ग्य होने से रसात्मकता विद्यमान रहती है। अत: इन दानों में काव्यत्व निहित रहता है। इस प्रकार काव्य के ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य, इन दोनों भेदों के करने में विश्वनाथ ने ध्वनिकार का ही आश्रय लिया है।

ध्वनि सम्प्रदाय में आचार्य मम्मट का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त द्वारा स्थापित ध्वनि सिद्धांत को परिवर्धित एवं व्यवस्थित रुप प्रदान किया। मम्मट ने ध्वनिकाव्य एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य—काव्य के तत्तद् भेदों का पृथक—पृथक एवं व्यवस्थित विवेचन किया है।

मम्मट के परवर्त्ती, अधिकांश आचार्य मम्मट सम्मत गुणीभुतव्यङ्ग्य काव्य के "आठ भेदों" को ही अधिक मान्य माना है। आचार्य मम्मट के अनुसार गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के आठ भेद होते हैं —

१. अगूढ़, २. वाच्यासिद्धयङ्ग्य, ३. अपरस्याङ्ग, ४. संदिग्धप्राधान्य, ५. तुल्य प्रधान्य, ६. अस्फुट, ७. काक्वाक्षिप्त एवं ८. असुन्दर।[१]

आचार्य मम्म्ट के अनुसार अगूढ़व्यङ्ग्य यद्यपि वाच्य रुप नहीं होता है, परन्तु अत्यन्त स्फुट होने के कारण, वाच्य के सदृश होने के कारण चमत्कार जनक नहीं होता है। अत: अगूढ़ व्यङ्ग्य की प्रधानता न होने के कारण उसको

---

१. "अगूढम्परस्याङ्ग वाच्यसिद्धयङ्गमस्फुटम।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।।
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः।" का०प्र०पं०उ०पृ० १९६

गुणीभूतव्यङ्ग्य माना जाता है।

आचार्य मम्मट ने अगूढ़ गुणीभूतव्यङ्ग्य के दो भेद माने हैं।

१. लक्षणामूला ध्वनि के भेदों में व्यङ्ग्यार्थ के अगूढ़ होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य।

२. अधिधमूला ध्वनि के अर्थशक्तिमूलक भेद के अगूढ़ होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य।

(१) ''अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीनिजातपत्रस्य तलस्थले नलः।

मरुत् किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामचक्रचंक्रमान्''।।

नैषध० १/७३

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के घोड़ों के तीव्र वेग का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है—

''राजा नल ने अपने आतपत्र के नीचे घोड़े से जिन सुन्दर मण्डलियों को करवाया, वायु समूह के मण्डलाकार भ्रमणों को विस्तृत कर, मरुत् क्या आज भी उन मण्डलियों के विषय में नहीं सीखता है''?

प्रस्तुत पद्य में मरुत् के विषय में ''शिक्षते'' अर्थात् सीखने रुप व्यापार का वर्णन किया गया है। ''सीखना चेतन का धर्म है, जो अचेतन मरुत् के विषय में सर्वथा बाधित हो जाता है। उत्तरार्ध के ''शिक्षते'' पद द्वारा ''वायु का मण्डलाकार रुप में बहना'' रुप अर्थ लक्षित होता है।

प्रस्तुत लक्ष्यार्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है ''ग्रीष्म ऋतु में

मण्डलाकार रुप में बहने वाले वायु के तीव्र वेग से भी अधिक तीव्र नल के घोडों का है''। प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होने पर ही ''वायुवेग के द्वारा नल घोडों के वेग का अनुकरण करने रुप'' वाच्यार्थ की सिद्धि होती है।

इस प्रकार यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ''शिक्षते'' से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ, अत्यन्त अगूढ़ होने के कारण, झटिति ही सामान्यजन—प्रतीतिगम्य है तथा अत्यन्त स्फुट होने के कारण अधिक चमत्कारजनक नहीं है। अतः प्रस्तुत उदाहरण तक्षणामूलाध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य भेद से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ के अगूढ़ होने के कारण, अगूढ़ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(२) श्रवणपुटयुगेन स्वेन साधूपनीतं दिगधिपकृपयात्तादीदृशः सन्निधानात्।

अलभत् मधुबालारागवागुत्थमित्थं निषधजनपदेन्द्रः पातुमानन्दसान्द्रः।।

नैषध० ६/११२

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के अनुरागपूर्ण वचनों को सुनकर राजा नल को हर्षातिषय का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है—

'निषेधाधिपति राजा नल ने इन्द्रादि दिग्पालों की कृपा से उस प्रकार के अदृश्य रुप में दमयन्ती के महल में स्थित होन के सानिध्य के कारण अपने दोंनों कर्णपुटों के द्वारा भलीभाँति लाये गये, बाला दमयन्ती के इस प्रकार अनुरागपूर्ण वचनों से उत्पन्न मधु को अत्यन्त आनन्दयुक्त होकर पीने के लिये प्राप्त किया''।

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्ध में वचनों के लिये ''पातुम'' पद का प्रयोग किया गया है। ''वचनों का ग्रहण'' श्रवणेन्द्रिय गोचर होता है उनका पान असंभव है, अत: वचनों का पान रुप अर्थ सवर्था बाधित होकर ''वचनों का ग्रहण'' रुप अर्थ को लक्षित करता है प्रस्तुत लाक्षिणिक अर्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि दमयन्ती के अनुरागपूर्ण वचन अमृत–तुल्य मधुर थे, राजा नल ने उन अमृततुल्य मधुर वचनों को भली–भाँति सुना, जो उन्हें अमृत–पान के सदृश आनन्ददायक प्रतीत हुए''।

यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत ''वचनों के पान'' के द्वारा व्यक्त ''वचनों का श्रवण'' रुप व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त स्फुट होने के कारण अधिक चमत्कारजनक नहीं है। अत: प्रस्तुत पद्य में लक्षणामूलाध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य नामक भेद में व्यङ्ग्यार्थ के अगूढ़ होने के कारण, अगूढ़ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(३) ''प्रत्यङ्गमस्यामभिकेन रक्षां कर्तुं मघोनेद निजास्त्रयस्ति।
वज्रञ्च भूषामणिमूर्तिधारि नियोजितं तत् घुतिकामुकं च''।।

नैषध० ७/१९

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के अंगों की शोभा का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''दमयन्ती में कामुक इन्द्र ने, प्रत्येक अंग की रक्षा करने के लिए आभूषणों

में जटित मणियों के रुप को धारण करने वाला अपना अस्त्र—वज्र और उन मणियों से निकली हुई कान्तिरुप धनुषरुप अपने अस्त्र को नियुक्त कर दिया है''।

अर्थात् पद्य में वर्णित है कि दमयन्ती के अंगों में दोषों से रक्षा के लिए इन्द्र ने दमयन्ती के मणिजटित आभूषणों के रुप में वज्र एवं उन मणियों से निकलती हुई कान्ति के व्याज से धनुष को नियुक्त कर दिया।

''वज्र एवं धनुष के अचेतन'' होने के कारण उनमें किसी की रक्षा करने की सामर्थ नहीं हो सकती, अतः वाच्यार्थ बाधित सा हो जाता है। धनुष एवं वज्र शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिये ''चेतन पुरुष'' रुप अर्थ का भी आक्षेप कर लेते हैं।

इस प्रकार यह लक्ष्यार्थ निकलता है कि ''मणिजटित आभूषण एवं उनसे निकलने वाली कान्ति, वज्रायुध एवं धर्नुधारी पुरुष के समान उनके अंगों को आवृत करके रक्षा करने के लिये तत्पर बैठे थे''। प्रस्तुत वाच्यार्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि ''रत्नजटित आभूषण एवं मणियों की कान्ति से उसका प्रत्यंग आवृत था, तथा वह दोष रहित थी''। यहाँ लक्षणामूलाध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ के अत्यन्त स्फुट होने के कारण प्रस्तुत पद्य अगूढ़ गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(४) स्तुतां मघोनस्त्यज साहसिक्यं वक्तुं कियत्तं यदि वेद वेदः

वृथोत्तरं साक्षिणि हृत्सुनृघणामज्ञातुविज्ञापि ममापि तस्मिन्।। नैषध० ६/९१

वाच्यसिद्धयङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल

आचार्य मम्मट के अनुसार "जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के उपस्कारक के बिना, वाच्यार्थ की सिद्धि संभव नहीं होती है, [१] वहाँ व्यङ्ग्यार्थ सापेक्ष वाच्यार्थ की सिद्धि का आवश्यक अंग होता है, [२] अत: यह अप्रधान व्यङ्ग्य, वाच्यसिद्धियङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य कहलाता है"।

आचार्य मम्मट ने वाच्ससिद्धियङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य के दो भेद माने हैं—

(१) एकवक्तृगत वाच्यसिद्धियङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य।

(२) भिन्नवक्तृगत वाच्यासिद्धयङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य।

(१) ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सर: प्रपघोत्कतयाऽनुकम्पिताम्।
तमूर्मिलोलै: पतगग्रहान्नृपं न्यधारयद्वारिरुहै: करैरिव।। नैषध० १/१२६

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के द्वारा सरोवर में स्थित राज—हंस के पकड़े जाने

---

१. वाच्यसिद्धयङ्ग वाच्यस्य वाच्यार्थस्य सिद्धि:, विश्रान्तिस्तत्र, अङ्ग निदानम् वाच्यस्य सिद्धिरेव यदधीना तदिति। — का०प्र०बा०बो०टीका पृ० १९०

२. यत्र पुर्नव्यङ्ग्यं विना वाच्यमेवात्मानं न लभते तत्र वाच्यसिद्धयङ्गत्वमिति व्यङ्ग्यसापेक्षनिरपेक्षसिद्धिभ्यामनयोभेद इति। — का०प्र०बा०बा०टीका पृ० २०५

का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है—

"सजातीय हंस के पकड़े जाने पर, भय से उडे हुए पक्षि—समूह से व्याप्त अतएव पक्षियों के उडने से उत्पन्न वायु से ऊपर उडते हुए जल से कम्पन्न को प्राप्त, वह तडाक तरंगों के द्वारा चंचल बनाये गये कमलरुपी हाथों के द्वारा पक्षी पकडने से, मानों राजा नल को मना—सा रहा था"।

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है, कि जब राजा नल ने सरोवर में स्थित स्वर्ण हंस को पकडा, तो वहाँ पर विद्यमान अन्य पक्षी भयातुर होकर, एक साथ उड चले, फलस्वरुप सरोवर का जल चंचल हो उठा, जिसके परिणाम—स्वरुपउस सरोवर में स्थित कमल हिल उठे", इस पर कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है कि "मानो सरोवर ने अपने कमल—रुपी करों से राजा नल को हंस पकडने से निवारित किया"।

प्रस्तुत पद्य में "न्यवारयत्—इव" अंश में उत्प्रेक्षा है, जो कि वाच्य—रुप है, किन्तु निवारण चेतन का धर्म है, जड़, कमल भला कैसे निवारण का कार्य करेंगे? इसलिए प्रस्तुत उत्प्रेक्षा की सिद्धि तब तक नहीं हो पाती, जब तक "वारिरुहों पर कमलों का आरोप" न किया जाये।

प्रस्तुत पद्य में "वारिरुह" उपमेय तथा "कर" उपमा दोनों ही शब्दतः उपात्त है, किन्तु दोनों व्यस्त हैं, अतएव "मयूर—व्यंसकादयश्च" सूत्र से समास के अभाव में यहाँ पर अभेद अथवा रुपित का आरोप वाच्य नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रकार ''वारिरुहै: करै:'' अंश में रुपक—व्यङ्ग्य है, जो वाच्य उत्प्रेक्षा का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है। अत: प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्धयङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(२) स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रलम्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।

निजस्य तेजश्शिखिन्न: परश्शता वितेनुरङ्गारमिवायश: परे।।

नैषध० १/९

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के शौर्य, पराक्रम एवं दिग्विजय का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है—

''शताधिक शत्रुओं ने, युद्धभूमि में प्रसृत धनुष के टंकार वाले, उस नल रुपी मेघ के वेगगामी प्रगत्भ बाणों की वर्षा से बुझी हुई, अपनी प्रतापाग्नि के अंगार की भाँति मानो अपने अपयश को फैला दिया''।

प्रस्तुत पद्य में युद्ध स्थल का प्रकारणिक है। युद्ध भूमि में न तो वर्षा हो रही है, न अग्नि प्रज्जवलित हो रही है, जो अंगार बन कर फैल जाय। यहाँ ''वितेनुरङ्गारमिवायश:'' पदों में उत्प्रेक्षा प्रयुक्त है, कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है कि मानो शत्रुओं ने प्रतापाग्नि के अंगार के समान अपने अपयश को फैला दिया''।

प्रस्तुत वाच्य रुप उत्प्रेक्षा तब तक सिद्ध नहीं हो सकती, जब तक पूर्वार्द्ध के 'प्रगल्भवृष्टि'' पद से ''अत्यधिक जल वर्षण'' रुप व्यङ्ग्यार्थ न व्यञ्जित हो।

चूँकि युद्ध का प्रसंग है, अतः अभिधा नियंन्त्रित हो जाने के कारण ''जल वर्षण'' रुप अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ ही होगा।

इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ के उपस्कार से वाच्यार्थ की सिद्धि संभव है।

''जिस प्रकार मेघों की जलवृष्टि के द्वारा अग्नि बुझकर अंगार—मात्र फैल जाते हैं, उसी प्रकार राजा नल के प्रगल्भ बाणों के प्रहार से शताधिक शत्रु पराजित हो गये, जिससे उनका प्रताप बुझ गया एवं चारों ओर अपयश फैल गया''।

इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा ही वाच्य रुप उत्प्रेक्षा की सिद्धि होती है, अतः प्रस्तुत वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(३) दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम्।

बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजनेत्रावतरत्वबोधिकाम्।।

नैषध० १/६

प्रस्तुत पद्य में कवि ने राजा का देवांशत्व सिद्ध किया है, एवं राजा नल की भगवान शंकर से तुलना की है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''इन्द्रादि आठों दिग्पालों के समूह के अंश से उत्पन्न विभूति वाले, आठों दिशाओं के स्वामी, उस राजा नल ने काम अर्थात् इच्छा, (पक्षान्तर में) कामदेव की प्रबलता को रोकने वाले तथा अपने को त्रिनेत्र भगवान शंकर का बोध कराने वाले, शास्त्र रुपी त्रितीय नेत्र को धारण किया''।

प्रस्तुत पद्य में राजा नल की भगवान शंकर से तुलना करने के लिए, उन्हें

दिग्पालों से अधिक प्रभुता—सम्पन्न कहा गया, क्योंकि प्रत्येक दिग्पाल एक—एक दिशा के स्वामी हैं, परन्तु राजा नल, तीनों लोकों के स्वामी भगवान शंकर की भाँति तीनों दिशाओं के स्वामी हैं।

राजा नल में समस्त गुण होते हुए भी ''वाच्य रुप भगवान शंकर के अगतारत्व का बोध'' तब तक सिद्ध नहीं हो सकता है, जबतक उनका ''त्रिनेत्रत्व—स्वरुप'' सिद्ध नहीं हो सकता है।

प्रस्तुत पद्य में राजा नल का प्रसंग होने के कारण, पद्य में प्रयुक्त ''कामप्रसभावरोधिनीम् द्वायाधिकां'' पद का नल के पक्ष में अर्थ होगा — कामरुपी इच्छा—शक्ति की प्रबलता को रोकने वाले शास्त्र ज्ञान रुपी तृतीय नेत्र''। इस प्रकार ''काम'' पद के इच्छा—शक्ति रूपी अर्थ में अभिधा द्वारा नियंत्रित हो जाने के कारण, भगवान शंकर के पक्ष में व्यञ्जित ''कामदेव की प्रबलता को रोकने वाले तृतीय नेत्र,'' रुप अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ होगा एवं प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ ही राजा नल के ''शास्त्र रुपी तृतीय नेत्र'' रुप, रुपक की इस प्रकार सिद्धि करता है —

जिस प्रकार भगवान शंकर ने तृतीय नेत्र से कामदेव की प्रबलता को रोका था, उसी प्रकार राजा नल शास्त्रज्ञ होने के कारण, शास्त्र को ही अपना तृतीय नेत्र मानकर, शास्त्र विरूद्ध कार्यों को करने में अपनी इच्छा शक्ति को सदैव रोकते थे।''

इस प्रकार उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ के व्यज्जित होने पर ही वाच्यार्थ बाध दूर होकर, राजा नल पर भगवान शंकर को अवतार, वाच्य रुप ''त्रिनेत्रत्व'' रुपक की

सिद्धि होती है।

इस प्रकार वाच्यार्थ बाध, व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा दूर होने पर ही, वाच्यार्थ उपपन्न होता है। यहाँ व्यङ्ग्यार्थ सापेक्ष वाच्यार्थ का उपकारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है, अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्धयङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(४) सितांशुवर्णैर्वयतिस्म तद्गुणैर्महासिवेम्नस्सहकृत्वरी बहुम्।

दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी।।

नैषध० १/१२

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के योद्धाओं की संग्राम वीरता एवं नल के दिगन्त—व्यापी यश का वर्णन किया गया है।

"उस राजा नल के सैनिकों की महान तलवार रुपी वेभा के साथ करने वाली, चतुरता रूपी तुरी, संग्राम रुपी आँगन में, चन्द्रमा के समान उज्जवल, उन राजा नल के गुणों से पक्षा० में — सूतों से दिशा रुपी अङ्गनाओं के यश रुपी वस्त्र को अत्यधिक मात्रा में बुनती थी"।

प्रस्तुत पद्य में "राजा नल के सैनिकों की रणनीति—कुशलता फलस्वरुपदिगन्त—व्यापी नल की यशस्कीर्ति", का तुरा वेमा के सहयोग से अङ्गनाओं के वस्त्र बुनने के साथ" अभेद रुप से वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत वाच्य रुपक, तब तक सिद्ध नहीं हो सकता है, जब तक ''गुण'' पद से अङ्गना—परक अर्थ व्यञ्जित न हो।

यहाँ दिग्विजय का प्रसंग होने के कारण ''गुण'' पद का नल पक्ष में अर्थ होगा— ''शौर्यादि गुण'' एवं एक अर्थ में अभिधा नियंत्रित हो जाने के कारण, अङ्गना पक्ष में व्यञ्जित ''तन्तु या सूत'' रुपी अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ रुप होगा।

इस प्रकार यहाँ गुण पद से व्यञ्जित ''तन्तु या सूत रुपी व्यङ्ग्यार्थ'' के व्यञ्जित न होने पर तलवार रुपी वेमा, चतुरता रुपी तुरी, ''दिशा रुपी अङ्गना एवं यश रूपी वस्त्र का बुनना'', वाच्य रुप साङ्गरुपक सिद्ध नहीं हो सकता है तथा ''शौर्यादि गुण रुपी तन्तुओं'' से ही ''यश रुपी वस्त्रों का बुनना'' संभव होने के कारण वाच्यार्थ उपपन्न हो जाता है।

यहाँ व्यङ्ग्यार्थ, सापेक्ष वाच्यार्थ सिद्धि का आवश्यक अंग होने के कारण उपकारक अतः गुणीभूत हो गया है, अतः प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(५) ''अनेन भैमी घटिष्यतस्तथा विधेरबन्ध्येच्छतया व्यलासि तत्।

अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम्''।।

नैषध० १/४६

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के प्रति अनुरक्त, कामपीड़ित नल के धैर्य भंग होने

का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है –

"इस नल के साथ दमयन्ती का संयोग कराने वाले विधि के अनिष्फल संकल्प का ही ऐसा विलास था, कि उस प्रकार के अनङ्ग्य (शरीरशून्य कामदेव) के पुष्पमय (अत्यन्त कोमल) बाणों के प्रहार से, राजा नल का वह अत्यन्त प्रसिद्ध एवं दुर्भेद्य धैर्यरुपी कवच विदीर्ण अर्थात् नष्ट हो गया"।

प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ कुछ बाधित सा लगता है, "कि जिस नल का धैर्य कवच के समान दुर्भेद है, वह शरीरशून्य कामदेव के अत्यन्त कोमल बाणों के प्रहार से कैसे विदीर्ण हो गया"?

प्रस्तुत पद्य के "विधेरवन्धेच्छतया व्यलासि तत्" रुप पूर्वाद्ध के वाच्यार्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है, कि "भाग्य के अनुकूल होने पर कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है, अर्थात् देव की प्रबल इच्छा को कोई नहीं टाल सकता है"।

इस प्रकार प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ बाध को दूर करता है –

"चूँकि देव की यही इच्छा थी कि नल का दुर्भेद धैर्य भी नष्ट हो जाये, तो वह शरीरशून्य कामदेव के पुष्पमय बाणों के प्रहार से ही नष्ट हो गया एवं नल–दमयन्ती के गुणों को सुनकर कामपीड़ित होने से अधीर हो गये"।

इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ बाध को दूर करके "धैर्यकञ्चुक" रुप, 'रुपक' को सिद्ध करता है। व्यङ्ग्यार्थ, वाच्योपस्कारक है, तथा वाच्य की सिद्धि व्यङ्ग्य के अधीन है। अतः प्रस्तुत वाच्यसिद्धयङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(६) फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।

स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः।।

नैषध० १/७७

प्रस्तुत पद्य में वन के वृक्षों के द्वारा नल का स्वागत करने का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य में वाच्यार्थ इस प्रकार है –

"अत्यधिक पक्षियों के उड़ने के कारण उत्पन्न वायु से पक्षा० – अत्यधिक वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न वात–दोष से कम्पित, पल्लव रूपी हाथों में फल और फूल लेकर स्थित, वन के वृक्षों ने मानो महर्षियों के वृद्ध समूहों से उस राजा नल का आतिथ्य करना सीखा"।

अर्थात् राजा नल के वन में उपस्थित होने पर फलों एवं पुष्पों से युक्त शाखायें, पक्षियों के समूह के उड़ने से उत्पन्न वायु के कारण हिल उठीं, जिसे देखकर कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है कि मानों वृक्ष महर्षियों के वृद्ध समूहों से आतिथ्य करना सीखकर नल का आतिथ्य कर रहे हैं।

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त "महर्षिवार्द्धकाद्वेन" पद से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि "उक्त विलास वन में वृद्ध महर्षियों का समूह निवास करता था"।

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध में कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है कि "मानो वृक्षों ने महर्षियों के वृद्ध–समूहों से आतिथ्य करना सीखा"। आतिथ्य करना चेतन का धर्म है, भला अचेतन वृक्ष कैसे आतिथ्य कर सकते हैं? अतः प्रस्तुत वाच्यार्थ तब

तक सिद्ध नहीं होता है जब तक ''पल्लवों पर करों'' का आरोप न किया जाये। पद्य में ''पल्लव करे'' उपमेय एवं उपमान दोनो ही पद शब्दत: उपत्त हैं, किन्तु व्यस्त हैं। अतएव ''मयूर व्यंसकादयश्च'' सूत्र से समास के अभाव में यहाँ अभेद का आरोप वाच्य नहीं व्यङ्ग्यार्थ है। इस प्रकार यहाँ ''व्यङ्ग्य रुपक'' पल्लव रुपी हाथों द्वारा ही वृक्षों की शाखाओं के द्वारा राजा नल का आतिथ्य रूप वाच्यार्थ सिद्धहोता है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ एवं व्यङ्ग्यरुपक, ही वाच्यार्थ को सिद्ध करते हैं। व्यङ्ग्यार्थ, सापेक्ष वाच्यार्थ का उपकारक अत: गुणीभूत हो गया है; अत: प्रस्तुत पद्य वाच्यसिद्धयङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल

आचार्य मम्मट के अनुसार ''सहृदय मात्र संवेद्य व्यङ्ग्य ही चमत्कार जनक होने के कारण ध्वनिकाव्य'' कहलाता है, परन्तु जिस व्यङ्ग्य की प्रतीति सहृदयों को भी सरलता से न हो,[१] वह व्यङ्ग्य अस्फुट अर्थात् अत्यन्त गूढ़ होने के कारण चमत्कार—जनक नहीं होता है, वरन् व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य ही

---

१. अस्फुटं सहृदयानामपि दु:खसंवेद्यम्।
सहृदयेरपि झटित्यसंवेद्यमिति यावत्।। — का०प्र० बालबोधिनी टीका पं०उ०पृ० १९०

अधिक चमत्कारजनक होता है। अतः ऐसे अस्फुट व्यङ्ग्य के स्थलों को गुणीभतव्यङ्ग्य काव्य कहा जाता है।

(१) तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा—यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात् तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि।।

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के तेज एवं यश का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''उस राजा नल के तेज अर्थात् प्रताप एवं यश के विद्यमान रहने पर यह दोनों सूर्य एवं चन्द्रमा व्यर्थ हैं, इस प्रकार ब्रह्मा जब—जब विचार करते हैं, तब सूर्य एवं चन्द्रमा के परिवेष के छल से व्यर्थता—सूचक कुण्डलना बना देते हैं''।

प्रस्तुत वाच्यार्थ से अत्यन्त गूढ़ यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि ''राजा नल सूर्य एवं चन्द्र से भी अधिक यशस्वी एवं तेजस्वी हैं, उनके रहने पर सूर्य एवं चन्द्र भी कान्तिहीन हो जाते हैं''।

प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ शीघ्र, सहृदय—प्रतीति—गम्य न होने के कारण अधिक चमत्कारजनक नहीं है, इसकी अपेक्षा ''सूर्य एवं चन्द्र के मण्डल को व्यर्थतासूचक कुण्डलना'' कहना रुप वाच्यार्थ अधिक चमत्कार युक्त होने के कारण प्रधान है। अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(२) रसालसाल: समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृति:।

समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्ज्जनाभियम्।।

नैषध० १/८९

प्रस्तुत पद्य में भ्रमण करते हुए नल के द्वारा मञ्जरी युक्त आम के वृक्ष को देखने का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार से है –

इस नल के द्वारा, भ्रमण करते हुए भ्रमरों के समन्तत: गुञ्जार रुपी हुंकार वाले, वायु के कारण चंचल मञ्जरियों रुपी अंगुलियों के द्वारा, विरही लोगों को मानो डराते हुए आम के वृक्ष को देखा गया।

प्रस्तुत वाच्यार्थ से अत्यन्त गूढ़ यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि ''मञ्जरी–युक्त आम का वृक्ष वसन्तागमन का सूचक है, अत: वह कामपीड़ित निरीहजनों को और अधिक सन्तप्त एवं दु:खी बना रहा है''। प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ शीघ्र प्रतीति–गम्य न होने के कारण अधिक चमत्कार–जनक नहीं है। इसकी अपेक्षा चंचल मञ्जरियों के द्वारा विरहीजनों को तर्जित कर डराना'' रुप वाच्यार्थ अधिक चमत्कार–जनक होने के कारण, प्रधान है। अत: प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(३) ''पाणये बलरिपोरथ भैमिशीतकोमलकरग्रहणार्हम्।

भेषज चिरंचिताशनिवासव्यापदामुपदिदेश रतीश:''।। नैषध० ५/४५

नारद मुनि ने भगवान इन्द्र से अत्यन्त सुन्दर दमयन्ती का विवाह सम्पन्न होने की सूचना दी, जिसमें समस्त राजगण एवं देवगण आमन्त्रित थे। यहॉ नारद के जाने के पश्चात् इन्द्र की अवस्था का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है— ''इस नारद मुनि के जाने के अनन्तर, कामदेव ने इन्द्र के हाथ के लिये, चिरकाल से सञ्चित व्रजाग्नि के सम्पर्क से उत्पन्न रोग के योग्य, दमयन्ती के शीतल एवं कोमल हाथ का ग्रहण अर्थात् विवाह करना ही उचित औषधि बताई।''

प्रस्तुत वाच्यार्थ से, अत्यन्त क्लिष्टता से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि —— ''दमयन्ती के विवाह की सूचना मिलने पर, इन्द्र दमयन्ती को पाने के लिये अत्यन्त कामीड़ित हो गये।'' प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ भी सुन्दर है, परन्तु सरलतापूर्वक सहृदय–प्रतीति गम्य न होने के कारण अधिक चमत्कारजनक नहीं है। व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा 'व्रजाग्नि से

उत्पन्न दाह के लिये दमयन्ती के शीतल हाथ के ग्रहण को औषधि बताना रुप वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कार–जनक होने के कारण प्रधान है। प्रस्तुत पद्य में व्यङ्ग्य अत्यन्त गूढ़ होने के कारण गुणीभूत अतएव अप्रधान हो गया है। अत: प्रसतुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(४) ''तच्छायसौन्दर्यनिपीतधैर्याः प्रत्येकमालिङ्गदम् रतीशः।

रतिप्रतिद्वन्द्वतमासु नूनं नामूषु निर्णीतरतिः कथञ्चित्''।।

नेषध० ६/३१

प्रस्तुत पद्य में इन्द्रादि दिग्पालों के दूतकर्म के लिये, अदृश्य रुप में दमयन्ती के भवन में प्रविष्ट नल को देखकर, वहाँ स्थित सुन्दरियों की अवस्था का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है –

''कामदेव ने (मणिनिर्मित फर्श एवं हारों में प्रतिबिम्बित) उस नल के सौन्दर्य से नष्ट हुए धैर्यवाली प्रत्येक स्त्री का आङ्गिन किया, क्योंकि रति की प्रतिद्वन्दिनी उन स्त्रियों के मध्य किसी भी प्रकार ''यह रति है'' ऐसा निर्णय नहीं कर सका''।

प्रस्तुत वाच्यार्थ से अत्यन्त क्लिष्टता से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि ''मणिनिर्मित फर्श एवं हारों में प्रतिबिम्बत नल के सौन्दर्य को देखकर, महल में स्थित स्त्रियाँ कामपीड़ित'' हो गईं। प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ सुन्दर है, परन्तु शीघ्र प्रतीतिगम्य न होने के कारण वाच्यार्थ की अपेक्षा कम–चारुत्व युक्त है। इसकी अपेक्षा धैर्यविहीन प्रत्येक स्त्री का कामदेव द्वारा ''आलिंगन'' रुप वाच्यार्थ अधिक चमत्कारजनक होने के कारण प्रधान है। अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(५) ''विलेखितुं भीमभुवो लिपीषु सख्याऽतिविख्यातिभृतापि यत्र।

अशाकि लीलाकमलं न पाणिमपारि कर्णोत्पलमक्षि नैव''।। नैषध० ६/६४

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती—सभा में चित्रकारी करती हुई दमयन्ती की सखियों का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है—

''जिस दमयन्ती की सभा में चित्रकारी में अत्यन्त निपुण भी कोई सखी दमयन्ती के लीला—कमल का चित्र बनाने मे समर्थ होने पर भी पाणि का चित्र नहीं बना सकी, कर्णाभूषण रूप कमलों का चित्र नहीं बना सकी।''

प्रस्तुत वाच्यार्थ से, अत्यन्त क्लिष्टता से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि — ''दमयन्ती के हाथ एवं नेत्र कमल—तुल्य होने पर भी अलौकिक सुन्दर थे, इसी कारण लौकिक वस्तुओं की चित्रकारी में निपुण सखी दमयन्ती के हाथ एवं नेत्र का चित्र नहीं बना सकी।

प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ सुन्दर है, परन्तु शीघ्र प्रतीतिगम्य न होने के कारण, वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चारूत्व—युक्त है। व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा ''चित्रकारी में निपुण सखी'', दमयन्ती के हाथ एवं नेत्र का चित्र न बना सकी'' रूप वाच्यार्थ अधिक चमत्कारजनक होने के कारण प्रधान है।

अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(६) ''शशसं दासीङ्गितवित् विदर्भजामितो ननु स्वामिनी! पश्य कौतुकम्।

यदेष सौधाग्रनटे पटाञ्चले चलेऽपि काकस्य पदार्पणग्रहः।।'' नैषध १२/२१

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती की दासी स्वयम्बर में सम्मिलित पाण्ड्य राजा का उपहास करती हुई, व्यङ्ग्य द्वारा काक का दुराग्रह वर्णित कर रही है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''दमयन्ती के अभिप्राय को जानने वाली दासी ने दमयन्ती से कहा— हे स्वामिन्! ''सुधा—धवलित महल के ऊपर नट रूप चञ्चल वस्त्र के अग्रभाग पर काक के पादन्यास रूप हठ का यह कौतुक देखो।''

दमयन्ती की दासी, दयमन्ती के अभिप्राय को जानती थी, अतः वह काक के प्रसंग के द्वारा अन्योक्ति रूप वचनों से पाण्ड्य राजा का उपहास कर रही है। प्रस्तुत वाच्यार्थ से अत्यन्त गूढ़ यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि —— ''जिस प्रकार महल के ऊपर फहराते हुए अतएव चञ्चल ध्वज पर काक का पैर रखने का उपक्रम व्यर्थ हो जाता है। उसी प्रकार नलानुरक्त दमयन्ती को प्राप्त करने का दुराग्रह व्यर्थ है।'' साथ ही दासी ने काक से राजा की तुलना करके राजा के प्रति दमयन्ती के ''अनादर भाव'' को भी व्यक्त किया है। प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ शीघ्र प्रतीति—गम्य न होने के कारण अधिक चारूत्व—युक्त नहीं है। व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा ''काक के उपक्रम का उपहास'' रूप वाच्यार्थ अधिक चमत्कार—जनक

होने के कारण प्रधान है, तथा व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान होने के कारण गुणीभूत हो गया है।

अतः प्रस्तुत पद्य अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है।

आचार्य मम्मट के अनुसार "जहाँ वाक्यार्थीभूत प्रधान अर्थ, अन्य रसादि या वाच्यादि अर्थ हो और दूसरा व्यङ्ग्य रसादि अथवा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग वस्तु या अलंकारादि व्यङ्ग्य उसका अंग हो" वह अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य कहलाता है।[१]

आचार्य मम्मट ने अपरस्याङ्ग के तीन प्रकार माने हैं—

(क) जहाँ कोई रस, भावादि प्रधान हो एवं दूसरा रस, भावादि उसका उपकारक होने के कारण अंग हो गया हो। प्रस्तुत स्थल पर आचार्य मम्मट ने रसवदादि अलङ्कारों को ही अपरस्याङ्ग गुणीभूत का स्थल माना है।[२]

रस के अन्य प्रधान रसादि या वाक्यार्थ का अंग होने पर "रसवत्", भाव के अन्य का अंग होने पर प्रेयस्, रसाभास एवं भावाभास के अन्य का अंग होने पर "ऊर्जस्वि" एवं भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति तथा भावशबलता के अन्य का अंग होने पर "समाहित" नामक अलंकार होते हैं।[३] अतः रसादि की

---

१. अपरस्य रसादेवच्यिस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अङ्ग, रसादि अनुकरणनरूपं वा।

— का०प्र०प्र०उ०पृ० १९९

२. एते रसवदाद्यलंकाराः। — का०प्र०पं०उ०पृ० २०४

३. यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्।

— का०प्र०पं०उ०पृ० २०५

अपरस्याङ्गता अनेक प्रकार की होती है।

(ख) जब कोई वाक्यार्थ प्रधान हो एवं उसे अपनी सिद्धि के लिये किसी दूसरे व्यङ्ग्य की अपेक्षा न हो फिर भी वस्तुरूप—व्यङ्ग्य, निरपेक्ष वाच्य का अंग हो, तब वह अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल होता है। [१]

(ग) जब कोई वाक्यार्थ प्रधान हो एवं व्यङ्ग्य की अपेक्षा न रखता हो, फिर भी अलंकाररूप—व्यङ्ग्य वाक्यार्थ का उपकारक हो, तब वह अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल होता है। [२]

(१) छायामय: प्रेक्षि कयापि हारे निजे स गच्छन्नथ: नेक्षयमाण:।

तच्चित्तयान्तर्निरचापि चारू स्वस्यैव तन्व्या हृदयं प्रविष्ट:।। नैषध ६/३०

प्रस्तुत पद्य में अदृश्य रूप से दमयन्ती के महल में प्रविष्ट नल के सौन्दर्य एवं उन्हें देखकर एक सुन्दरी की अवस्था का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

'किसी स्त्री ने अपने हार में प्रतिबिम्बित नल को देखा, फिर अन्यत्र जाते

---

१. अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्यङ्गतां नीत:।

— का०प्र०पं०उ०पृ० २०६

२. अत्र नायकवृतान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनी वृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थित:।

— का०प्र०पं०उ०पृ० २०७

हुए नहीं देखा। तब उस नल में अनुरक्त चित्तवाली कृशाङ्गी ने ''मेरे ही हृदय में प्रविष्ट हो गया'' इस प्रकार का ठीक ही निश्चय किया है।''

प्रस्तुत पद्य में कवि का ''राजविषयक रति रूप भाव'' प्रधान रूप से वर्णित है, जो कि नल के प्रभावातिशय एवं सौन्दर्य आधिक्य वर्णन द्वारा व्यक्त होता है।

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध के द्वारा ''कृशाङ्गी का नल के प्रति अनुरक्त होना एवं कामपीड़ित होना'' व्यञ्जित होता है, जिससे कृशाङ्गी की नल के प्रति ''रति भावना'' व्यञ्जित होती है, जो कि परपुरूष के प्रति प्रवृत्त होने के कारण ''श्रृंगार—रसाभास'' की कोटि में आती है।

प्रस्तुत श्रृंगार—रसाभास, प्रधान रूप से वर्णित राजा नल के सौन्दर्याधिक्य एवं प्रभावातिशय रूप वर्णन को और अधिक प्रकर्षयुक्त बना रहा है, क्योंकि अपने मणिनिर्मित हार में प्रतिबिम्बित नल के सौन्दर्य को देखकर कृशाङ्गी उस नल पर अत्यधिक आसक्त होकर कामपीड़ित हो गई।

यहाँ ''श्रृंगार—रसाभास'' कविनिष्ठ राजविषयक रति रूप भाव का उपकारक होने के कारण अंग हो गया है। अत: प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(२) ''तस्माददृश्यादपि नातिबिभ्युस्तच्छायरूपाहितमोहलोलाः।

मन्यन्त एवादृतमन्मथाज्ञाः प्राणानपि स्वान् सुदृशस्तृणानि।।''

— नैषध : ६/३२

प्रस्तुत पद्य में दूतकर्म के लिये, दमयन्ती के महल में अदृश्यरूप में स्थित नल के सौन्दर्य को देखकर एक सुन्दरी की अवस्था का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''अन्तःपुरवासी सुन्दर स्त्रियाँ उस प्रतिबिम्बित नल के सौन्दर्य से उत्पन्न मोह से चञ्चल होती हुई, उस अदृश्य नल से भी नहीं डरीं। कामदेव की आज्ञा के अधीन होती हुई उन्होंने अपने प्राणों को भी तृण नहीं समझा।''

प्रस्तुत पद्य में अन्तःपुरवासी सुन्दर स्त्रियों के प्रतिबिम्बित नल के प्रति कामाभिलाष होना ''श्रृंगाररसाभास'' की कोटि में आता है। प्रस्तुत पद्य में वर्णित है, कि प्रतिबिम्बित नल के सौन्दर्य से जनित मोह से उत्पन्न चञ्चलता के कारण अदृश्य होने पर भी उनका ''भय समाप्त हो गया''। अतः स्त्रियों के ''त्रासरूप व्यभिचारी—भाव की शान्ति'' व्यञ्जित होती है।

प्रस्तुत पद्य में व्यञ्जित ''त्रासरूप भाव की शांति'' स्त्रियों के प्रधानरूप से व्यक्त नलविषयक ''श्रृंगार रसाभास'' को ही अधिक चारूत्व युक्त बना रहा है, क्योंकि नल के प्रति कामाभिलाष होने के कारण ही स्त्रियाँ अदृश्य नल से नहीं डरीं। श्रृंगारासाभास प्रधान एवं ''त्रासभाव—शान्ति'' उसका उपकारक है, अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूत—व्यङ्ग्य का स्थल है।

(३) अदस्तदाकर्णि फलाढयजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम्।

इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः।।

— नैषधः १ / २८

प्रस्तुत पद्य में नागाङ्गनाओं का राजा नल के प्रति, अभिलाष पूर्ण रूप में वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार से है — "हम लोगों के ये दोनों नेत्र उस राजा नल के चरित को सुनकर सफल जीवन तो हो गये, किन्तु उस राजा नल का साक्षात् दर्शन न कर सके"। इस प्रकार से नाग—अङ्गनायें नल के विषय में, हृदय से अपने नेत्रों की स्तुति एवं निन्दा करती हैं।"

प्रस्तुत पद्य में प्रधान रूप से राजा नल—विषयक कथाओं का महात्म्य एवं उनके सौन्दर्य का वर्णन किया गया है, जिससे कविनिष्ठ "राजविषयक रतिरूप भाव" प्रधान रूप से व्यञ्जित होता है।

नाग—अङ्गनायें, जो नेत्रों से देखती भी हैं, एव सुनती भी हैं, उन नेत्रों की इसलिये प्रशंसा कर रही हैं, क्योंकि इन्हीं नेत्रो से नल की अमृत के सदृश पुण्यफलदायिनी कथा का श्रवण संभव होने के कारण उनका जीवन सफल हो गया तथा इन नेत्रों से पाताल लोक में निवास करने के कारण, मर्त्यलोकवासी, प्रभावशाली, सौन्दर्ययुक्त राजा नल का दर्शन न कर सकी, इस कारण नेत्रों की निन्दा करती हैं।

प्रस्तुत स्तुती एवं निन्दा से नाग—अङ्गनायें की रतिविषयक रति की व्यञ्जना होती है। वे नल के प्रति "कामाभिलाषपूर्ण" होने के कारण नल का

दर्शन एवं नल कथा का श्रवण करने की इच्छा करती हैं, नाग—अङ्गनाओं की 'रति—वासना' पर—पुरूष के प्रति प्रवृत्त होने के कारण ''श्रृंगार—रसाभास'' कहलायेगी।

प्रस्तुत ''श्रृंगार—रसाभास'', प्रधानभूत कविनिष्ठ 'राजविषयक रतिरूप भाव' को और अधिक प्रकर्ष—युक्त बना रहा है, क्योंकि मर्त्यलोक में ही नहीं वरन् पातालल्लोक एवं दवलोक में भी सुन्दरियाँ, राजा नल के सौन्दर्य पर मुग्ध है। अतः कविनिष्ठ ''रतिरूप—भाव'' प्रधान है, एवं श्रृंगार—रसाभास उपकारक होने के कारण गौण हो गया है। इस प्रकार प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(४) श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः।।

— नैषधः १ / ३१

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के सौन्दर्यातिशय एवं प्रभावातिशय का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

उस नल को देखकर, ''सौन्दर्य के कारण मैं इसके योग्य हूँ'', इस प्रकार से अपने को देखने के लिये हाथ में धारण किया गया दर्पण, दमयन्ती को छोड़कर, किस सुन्दरी के द्वारा सौन्दर्य अभिमान रहित होने के कारण निःश्वास से मलिन नहीं किया गया?''

यहाँ सौन्दर्यातिशय एवं प्रभावातिशय के वर्णन के कारण कविनिष्ठ राजविषयक रतिरूप भाव प्रधानरूप से वर्णित है। लोकत्रय में उत्पन्न, अत्यन्त सुन्दर नारियाँ, सौन्दर्याभिमान के कारण यह सोचती हैं कि मैं राजा नल के सर्वथा योग्य हूँ, परन्तु जब वे तुलनात्मक दृष्टि से, नल के सौन्दर्य के साथ अपने सौन्दर्य की तुलना करती हैं, तो अपने को नल से कम सुन्दर पाने पर, सर्वथा अयोग्य समझकर, गर्व रहित हो जाती हैं, अतः दुःखपूर्ण निःश्वास के द्वारा हाथ में धारण किये गये दर्पण को मलिन कर देती हैं।

इस प्रकार यहाँ पर सुन्दरियों में ''गर्वरूप मद नामक व्यभिचारी भाव की शान्ति'' का वर्णन किया गया है, जो कविनिष्ठ प्रधान ''राजविषयक रतिरूप भाव'' का उपकारक एवं चारूत्ववर्धक होने के कारण, अप्रधान हो गया है।

अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(५) ''कथाप्रसङ्गेषु मिथस्सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया''।। नैषध १ / ३५

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के नल—विषयक श्रवणानुराग का वर्णन किया गया है। यद्यपि दमयन्ती ने नल का दर्शन नहीं किया है, केवल चारण—बन्दी जनों एवं कथा प्रसङ्गों में उसके रूप एवं यश का श्रवण किया है, फिर भी उन्हीं वर्णनों के आधार पर दमयन्ती स्वयं अपने को, नल के सर्वथा योग्य समझकर

उससे अनुराग करती है।

प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है — ''आपस में वार्त्तालाप के अवसरों पर अपनी सखी के मुख से तृण (तृण नामक घास) के बारे में भी 'नल' नाम सुनकर कृशाङ्गी दमयन्ती तुरन्त ही अन्य बातचीत अथवा कार्य को छोड़कर उस बात को सुनने में ही दत्तचित्त हो जाती थी''।

यहाँ पर दमयन्ती के हर्ष एवं औसुक्य भावों की शबलता का वर्णन किया गया है, क्योंकि ''तृण'' के अर्थ में प्रयुक्त ''नल'' शब्द से राजा नल का स्मरण होने से हर्षित हो जाती थी। अत: पहले ''हर्ष'' रूप व्यभिचारी भाव की प्रतीति होती है, उसके अनन्तर उसे उत्सुकता होती थी कि नल के विषय में क्या चर्चा हो रही है, अत: ''औसुक्य'' रूप व्यभिचारी की अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार यहाँ व्यक्त ''हर्ष'' एवं औसुक्य भावों की शबलता'', दमयन्ती के 'नलविषयक अनुरागरूप रति' के उत्कर्ष को बढ़ाने के कारण, गुणीभूत अंग हो गया है। भावों की शबलता से, दमयन्ती के नल विषयक रति की प्रधान रूप से व्यञ्जना होती है, अत: प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(६) ''परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात्तयो: क्षणं चेतसि विप्रलम्भ:।

स्नेहातिदानादिव दीपिकार्चिर्निमिष्य किञ्चिद्द्विगुणं दिदीपे।।'' नैषध: ६/५५

प्रस्तुत पद्य में राजा नल एवं दमयन्ती के चित्त में स्थित, विरह के कारण उद्दीप्त, भावों की एक साथ सन्धि का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''उन दोनों नल एवं दमयन्ती के चित्त में स्थित विरह परस्पर स्पर्श रस की अधिकता से सिञ्चित होने के कारण क्षणमात्र शान्त होकर, तत्काल अधिक स्नेह (प्रेम, पक्षान्तर में तेल) देने से दीपक की लौ के समान द्विगुणित होकर उद्दीप्त होने लगा।''

प्रस्तुत पद्य में नल एवं दमयन्ती की विरहावस्था की तुलना दीपक की लौ के साथ की गई है, जिस प्रकार दीपक की लौ अधिक तेल से सिञ्चित होने के कारण पहले कुछ बुझती सी होकर, पुनः द्विगुणित होकर जलने लगती है, उसी प्रकार नल दमयन्ती का विरह, अधिक प्रेम के सुख से सिञ्चित होने के कारण पहले कुछ ''शान्त'' होकर, तत्काल द्विगुणित रूप से उद्दीप्त हो गया।

इस प्रकार प्रस्तुत वर्णन से यहाँ नल एवं दमयन्ती की विरहावस्था की व्यञ्जना होती है, जिससे ''विप्रलम्भ शृंगार'' प्रधान रूप से चारूत्व–युक्त है। नल–दमयन्ती के चित्त में उत्पन्न विरह के ''सुप्त एवं विबोध'' रूप व्यभिचारी भावों की सन्धि का एक साथ वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत ''भावसन्धि'' नल–दमयन्ती विषयक ''विप्रलम्भ शृंगार रस'' को और अधिक प्रकर्ष–युक्त बनाने के कारण उपकारक हो गया है। अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य का स्थल है।

(७) ''जीवितावधि वनीयकमात्रैर्याच्यमानमखिलैः सुलभं यत्।

अर्थिने परिवृढाय सुराणां किं वितीयं परितुष्यत चेतः''।। नैषध० ५/८१

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है, कि नल को दमयन्ती के स्वयंबर में सम्मिलित जानकर, ईर्ष्यायुक्त इन्द्र नल के समीप याचक बनकर उपस्थित हुये। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है –

''जब समस्त याचकों को प्राण–पर्यन्त याचना की गई वस्तु सुलभ हैं, तो देवताओं में श्रेष्ठ याचक इन्द्र को क्या देकर चित्त सन्तुष्ट होवे''?

अर्थात् जब सामान्य याचक को मैं सरलता से प्राण भी दे सकता हूँ, तब अत्यन्त उत्तम पात्र देवराज इन्द्र को प्राणों से भी उत्तम वस्तु देना उचित है, परन्तु प्राणों से उत्तम वस्तु का अभाव दिखाई पड़ने पर, नल के चित्त में 'चिन्ता रूप व्यभिचारी भाव का उदय'' हो गया कि इन्द्र को क्या वस्तु देकर सन्तुष्ट करूँ''?

इस प्रकार यहाँ नलनिष्ठ 'देव विषयक रतिरूप भाव'' की प्रधान रूप से व्यञ्जना हो रही है एवं ''चिन्ता भावोदय'' 'देव–विषयक रति रूप भाव'' के प्रकर्ष को बढ़ाने के कारण उपकारक अतः अंग हो गया है।

अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है।

(८) विचिन्त्य नानाभुवनागतांस्तानमर्त्यसङ्कीर्त्यचरित्रगोत्रान्।

कथ्याः कथङ्कारममी सुतायामिति व्यषादि क्षितिपेन तेन।। नैषध १०/६८

प्रस्तुत पद्य में स्वयम्बर में सम्मिलित होने वाले राजाओं के चरित्र–वर्णन के विषय में भीम की चिन्ता व्यक्त की गई है।

प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है –

''वह राजा भी अनेक लोकों (देशों) से आये हुए उन राजाओं को देवताओं के द्वारा वर्णनीय चरित्र एवं गोत्र वाला विचार कर ''ये राजगण पुत्री दमयन्ती को किस प्रकार से वर्णित किये जायेंगे''? इस कारण से चिंतित हो गये''।

प्रस्तुत पद्य में राजा भीम की अन्य ''नृपादि विषयक रति'' प्रधान रूप से वर्णित है, क्योंकि अन्य श्रेष्ठ राजाओं का चरित्र एवं गोत्र–वर्णन, मनुष्यों के द्वारा संभव न होकर, देवताओं के द्वारा ही वर्णन किया जा सकता है, अतएव वे महान हैं।

इन राजाओं के वंश एवं चरित्र को पूर्णतया दमयन्ती से किस प्रकार वर्णन किया जाय एवं बिना पूर्ण–ज्ञान के वह कैसे किसी का वरण करेगी? अत: उन राजाओं के वर्णन के विषय में राजा भीम चिन्तित हो उठे, इस प्रकार यहॉ ''चिन्तारूप व्यभिचारी–भाव के उदय'' की व्यञ्जना होती है।

प्रस्तुत ''चिन्तारूप–भाव का उदय'' अन्य नृपादि विषयक ''रति रूप भाव'' के प्रकर्ष को और अधिक बढ़ा रहा है, क्योंकि राजा भीम की चिन्ता से राजाओं की श्रेष्ठता बढ़ जाती है। इस प्रकार यहाँ राजविषयक ''रतिरूप–भाव''

प्रधान है, एवं ''चिन्ता—भावोदय'' रतिरूप—भाव का उपकारक होने के कारण अंग हो गया है, अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(९) तपापि हाहा विरहात् क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्यतेषु ते।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम।। नैषध १/१४१

प्रस्तुत पद्य में राजा नल द्वारा पकड़े गये हंस का, पुत्र—विषयक प्रेम वर्णित है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

'हे प्रिये! बहुत दिनों बाद, बहुत मनोरथों से प्राप्त अस्फुटित नेत्रों वाले, वे बच्चे मेरे व तुम्हारे विरह से, भूख से व्याकुल हो उन घोसलों में लौटकर क्षणमात्र में मर जायेंगे। हाय, हाय अत्यधिक दुःख है।''

''जब राजा नल ने क्रीड़ा सरोवर में स्थित सुवर्ण हंस को पकड़ लिया, तब बहुत अनुनय विनय के बाद भी राजा नल के हंस को न छोड़ने पर, हंस अपना अन्त समय निकट समझकर, प्रिया हंसी को संबोधित करके, विलाप कर रहा है, कि मेरे वियोग में हंसी के भी मर जाने पर अबोध शिशु भी भूख के कारण मर जायेंगे।

प्रस्तुत पद्य में हंस अपना अन्त समय निकट समझकर विलाप कर रहा है। अतः यहाँ करुण—रस प्रधान है, उसके विलाप में उसका अपने अबोध शिशुओं के प्रति उक्त प्रकार से व्यक्त ''रति रूप भाव'' उसके शोक को तीव्र

बनाता हुआ, ''करुण—रस का पोषण'' कर रहा है।

इस प्रकार हंस के विलाप से व्यक्त ''हंसनिष्ठ, पुत्र—विषयक रतिरूप भाव'', प्रधान ''करुण—रस'' का पोषक होने के कारण अंग हो गया है।

अत: प्रस्तुत पद्य अप्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(१०) प्रियं च मृत्युं न लभे त्वदीप्सितं तदैव न स्यान्मय यत्त्वमिच्छति।

वियोगमेवेच्छ मन:! प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्यसौ मम।। नैषध ९/९२

दूतकर्म करते हुए नल, दमयन्ती को इन्द्रादि दिग्पालों का वरण करने का उपदेश देते हैं, जिससे वे कुद्ध होकर शाप न दे दें। अत: नल—प्राप्ति, समागम एवं दर्शन की आशा नष्ट हो जाने पर, दमयन्ती विलाप करते हुए, अपने मन से नल विरह की कामना करती है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

'हे मन! मैं तुम्हारे अभीष्ट प्रिय नल को नहीं प्राप्त कर रही हूँ एवं मृत्यु को भी नहीं प्राप्त कर रही हूँ। तुम मेरे जिस कार्य की इच्छा करते हो, वही सिद्ध नहीं होता है। अतएव तुम मेरे प्रिय नल के साथ वियोग की ही इच्छा करो, जिससे तुम्हारी कृपा से मेरा वह नल—विरह न हो।''

अर्थात् दमयन्ती अपने मन से उपालम्भनापूर्वक कहती है, कि तुम मेरे अभीष्ट कार्य के विरुद्ध, कार्य को ही सिद्ध करते हो। न नल समागम, न मरण ही होने देते हो, अत: अब तुम नल विरह की कामना करो, जिससे उसके

विपरीत, मेरा ''नल—संयोग'' रूप कार्य सिद्ध हो जाये।

दिग्पालों के शाप के भय से दमयन्ती को नल—प्राप्ति एवं दर्शन की आशा समाप्त हो गई थी। ''रत्यात्मक अवस्था विच्छिन्न हो जाने के कारण उसका निन्दात्मक विलाप करूण रसाभिव्यञ्जक है।'' अतः प्रधान रूप में ''करूण रस'' की अभिव्यक्ति हो रही है।

करूण विलाप करते हुए भी दमयन्ती अपने मन से नल विरह के विपरीत अर्थात् ''नल—संयोग'' रूप कार्य को सिद्ध करने के लिये अनुरोध करती है, एवं नल—प्राप्ति न होने पर, नल वियोग में मरण की ही इच्छा करती है, जो दमयन्ती के ''नल—विषयक अनुराग की दृढ़ता'' की व्यञ्जना करता है। अतः यहाँ ''श्रृंगार—रस'' की व्यञ्जना हो रही है।

दमयन्ती के वियोगजन्य दुःख को और अधिक उद्दीप्त करने के कारण प्रस्तुत श्रृंगार रस, करूण रस का पोषक अतश्च अंगरूप हो गया है। इस प्रकार ''नल—विषयक रति से उद्दीप्त करूण रस'' ही प्रधान रूप से आस्वाद्य है। अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(११) ''प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बिताऽऽमोदभरं विवृण्वती।

धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजनी यत्प्रभवाऽप्सरायिता।।'' नैषध १/११५

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के उद्यान के क्रीड़ा सरोवर में उत्पन्न कमलिनी

का अप्सरा के साथ उपमानोपमेयभाव शब्द शक्ति के द्वारा व्यङ्ग्य रूप से स्वयं ही प्रतीत हो रहा है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

"जिस सरोवर में उत्पन्न, दिन में सूर्य को सम्यक् प्रकार से प्राप्त करके, कण्टकों से व्याप्त, सुगन्धित—समूह को फैलाती हुई, विकसित शोभा स्थान—रूप शरीर को स्फुट रूप से धारण करती हुई कमलिनी, विशिष्ट कामयुक्त अदिति—पुत्र इन्द्र को प्राप्त करके, रोमाञ्चों से व्याप्त, हर्षातिशय को प्रकट करती हुई तथा दिवा अर्थात् स्वर्ग से, "स्फुटश्रीगृहम् उज्जवल शोभास्पदं विग्रहो देहो यस्याः सा" स्फुट रूप से धारण किये गये प्रकाशमान शोभा—स्थान रूप शरीरवाली अप्सरो के समान, आचरण करती है।"

प्रस्तुत पद्य में कमलिनी के विशेषण "प्रकाममादित्यमवाप्य—कण्टकैः करम्बिताऽऽमोदभरं विवृण्वती धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा" परिवृत्यसह है, इसी कारण यहाँ पर श्लिष्ट विशेषणों द्वारा व्यक्त उपमानोपमेयभाव शब्दशक्तिमूलक है।

यहाँ सम्पूर्ण पद्य में श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा "कमलिनी" का "अप्सरा" के साथ उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य है, परन्तु अन्तिम चरण में कवि ने "सरोजनी यत्प्रभवाऽप्सरायिता" कह कर व्यङ्ग्य उपमानोपमेय—भाव को वाच्य का अंग बना दिया है।

इस प्रकार यहाँ पर संलक्ष्यक्रम—व्यङ्ग्य शब्दशक्तिमूलक उपमा, वाच्य का अंग बन रही है, अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(१२) स सिन्धुजं शीतमहस्सरहोदरं हरन्तमुच्चैः श्रवसः श्रियं हयम्।

जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारूरोह क्षितिपाकशासनः।। नैषध १/६४

प्रस्तुत पद्य में राजा नल का देवराज इन्द्र के साथ एवं नल के घोड़े का, इन्द्र के घोड़े के साथ, उपमानोपमेय—भाव शब्द—शक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य द्वारा व्यञ्जित हो रहा है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''समस्त राजाओं के विजेता (इन्द्र पक्ष में) सर्व पर्वत विजेता, विशाल नेत्रों वाले अर्थात् विशाल ज्ञान रूप नेत्रों वाले, (इन्द्र पक्ष में) सहस्त्र नेंत्रों वाले, पृथ्वी के इन्द्र वह नल, सिन्धु देश (इन्द्र घोड़े के पक्ष में) समुद्र में उत्पन्न अतएव चन्द्रमा के सहोदर अर्थात् चन्द्रमा के समान, श्वेत वर्ण तथा उच्चैश्रवा इन्द्र के घोड़े की शोभा का हरण करने वाले, उस घोड़े पर आरूढ़ हुए।''

प्रस्तुत पद्य में राजा नल का इन्द्र के साथ तथा घोड़े का इन्द्र के घोड़े के साथ ''उपमानोपमेय—भाव'' व्यञ्जित हो रहा है।

राजा नल एवं घोड़े के समस्त विशेषण श्लिष्ट एवं परिवृत्यसह हैं, परन्तु अन्त में ''क्षितिपाकशासन'' एवं ''उच्चैःश्रवस श्रियं हरन्तम्'' पदों के प्रयोग के द्वारा व्यङ्ग्य उपमानोपमेय—भाव को वाच्य का अंग बना दिया गया है। यद्यपि वाच्यार्थ निरपेक्ष है, फिर भी व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ पर आरोपित होकर स्थित है तथा वाच्यार्थ का ही शोभावर्धक है। अतः प्रस्तुत पद्य ''संलक्ष्यक्रम—व्यङ्ग्य शब्दशक्तिमूलक अलंकारध्वनि'' की वाच्याङ्गता का उदाहरण है।

(१३) नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः।

दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे।। नैषध १/८५

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है कि राजा नल ने, उद्यान में स्थित नवीन पल्लवों एवं कलिकाओं से युक्त लता का दर्शन किया। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''वायु के द्वारा चुम्बित अर्थात् स्पृष्ट मकरन्द कणों के कारण रोमाञ्चित शरीर वाली, कुछ—कुछ विकसित एवं शोभायमान कलिकाओं वाली, कुछ कम्पायन एवं नवीन पल्लवों से युक्त लता को वियोगियों के लिये दु:खद होने के कारण भय तथा सुन्दरता के कारण आदर युक्त नेत्रों से राजा नल ने देखा।''

अप्रस्तुत नायिका परक व्यङ्ग्यार्थ इस प्रकार है —

जिस प्रकार कस्तूरी चन्दनादि की सुगन्ध से युक्त, नायक के द्वारा चुम्बित, प्रिय—स्पर्श से रोमाञ्चित अंगों वाली, थोड़ा स्मित करती हुई (सात्विक भाव उत्पन्न होने के कारण) कुछ—कुछ कम्पनयुक्त नायिका को परस्त्री होने के कारण भयपूर्वक एवं सुन्दरी होने के कारण आदरपूर्वक कोई नायक देखता है। प्रस्तुत पद्य में, 'प्रस्तुत लता'' के श्लिष्ट विशेषणों के महात्म्य से, ''अप्रस्तुत नायिका के व्यवहार'' की व्यङ्ग्य रूप से प्रतीति हो रही है। 'विशेष्य लता'' पद श्लिष्ट नहीं है, अत: व्यङ्ग्यार्थ पूर्ण रूप से पर्यवसित नहीं है, वरन् वाच्यार्थ पर अध यारोपित होकर, निरपेक्ष वाच्यार्थ का उपकारक तथा शोभावर्द्धक होने के कारण

अंग हो गया है।

यहाँ अर्थशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि रूप ''नायिका व्यवहार की प्रतीति'' वाच्यभूत निरपेक्ष ''लता व्यवहार'' पर अध्यारोप द्वारा स्थित होने के कारण वाच्य का अंग बन गया है।

अतः प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(१४) ''क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया।

मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमीक्ष्यते।।'' नैषध २/७८

प्रस्तुत पद्य में राजा भीम की कुण्डिन नगरी का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''रात्रि में क्षणमात्र निःशब्द तथा चहारदीवारी रूप योगपट्ट को धारण की हुई, जो कुण्डिन नगरी मणिनिर्मित महल रूप निर्मल एवं अनिवर्चनीय आभ्यन्तर प्रकाश को देखती है।''

प्रस्तुत वाच्यार्थ से, अप्रस्तुत योगिनी के व्यवहार रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है .... 'इस प्रकार कोई भी योग—साधना करने वाली योगिनी कुछ समय तक मौन—धारण करके, योगापट्ट को धारण करके अवाङ्मन—गोचर निर्मल, आभ्यन्तर ज्योति को देखती है।''

प्रस्तुत उदाहरण में ''वाच्य रूप कुण्डन नगरी'' के श्लिष्ट विशेषणों के

माहात्म्य से अप्रस्तुत, व्यङ्ग्य रूप योगिनी के व्यवहार'' की प्रतीति होती है। ''यया मणिवेश्यमयं'' ''विशेष्य'' पद श्लिष्ट नहीं है, अत: योगिनी के व्यवहार की प्रतीति रूप व्यङ्ग्यार्थ, अपर्यवसित होने के कारण, वाच्य पर अध्यारोप द्वारा स्थित है, तथा निरपेक्ष वाच्यार्थ का उपकारक होने के कारण अंगरूप है। अत: प्रस्तुत पद्य अपरस्याङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल

आचार्य मम्मट के अनुसार ''जहाँ साधक—बाधक प्रमाणों के अभाव में वाच्य एवं व्यङ्ग्य में से किसी एक के प्राधान्य का निश्चय न हो सकने के कारण यह संदेहास्पद हो कि चमत्कार वाच्य के कारण उत्पन्न हुआ है, अथवा व्यङ्ग्य के कारण, वहाँ संदिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है।''[१] ऐसे स्थलों पर चूँकि वाच्य एवं व्यङ्ग्य में से किसी एक का प्राधान्य विवक्षित होता है, अतः दूसरा अर्थ अप्रधान होता है, परन्तु दोनों में से किसका प्राधान्य है, यह अनिश्चियात्मक होने के कारण ही, यह सन्दिग्ध प्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल होता है।

(१) किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो।

स्मरं तनुच्छायतया तमात्मना शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः।।

नैषध १/४७

प्रस्तुत पद्य में नल के शारीरिक—सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''और अधिक क्या कहा जाय, जिस कामदेव के अस्त्रों से सन्तप्त

---

१. यद्वा संदिग्धं। चमत्कारजनने वाच्यव्यङ्ग्ययो संदेहविषयभूतं प्राधान्यं यत्र तत्।
वाच्यकृतो वा चमत्कार इति संदेहः। — का०प्र० बालबोधिनी टीका, पं०उ० पृ० १९०

पितामह ब्रह्मा आज भी सन्ताप निवारणार्थ कमल का आश्रय लेते हैं, अपने शरीर की छाया प्रतिबिम्बित होने के कारण उस कामदेव का, वह राजा नल मानो उल्लंघन करने में समर्थ नहीं हो सके।''

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध में वर्णित वाच्यार्थ का यह तात्पर्य है कि ''राजा नल का शारीरिक सौन्दर्य कामदेव की अपेक्षा अधिक है, और कामदेव सौंदर्य में नल की परछाई स्वरूप है''। यह जगत्प्रसिद्ध है कि स्वच्छाया अनुलङ्घनीय होती है। इस प्रकार ''तनुच्छायतया'' पद के द्वारा व्यक्त ''नल का कामदेव की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य'' रूप वाच्यार्थ चमत्कारजनक होने के कारण, प्रधान हो सकता है।

इसी प्रकार पद्य के पूर्वार्द्ध में वर्णित है कि ''जिस कामदेव के बाणों से सन्तप्त पितामह ब्रह्मा आज तक कमल का आश्रय लेते हैं,'' इससे यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है, कि –

'जिस कामदेव ने पितामह ब्रह्मा को भी इतना अधिक संतप्त किया कि वे आज भी सन्ताप निवारण के लिये, शीतल एवं ताप–निवारक कमल का आश्रय लेते हैं, वहीं कामदेव अपने प्रतिद्वन्द्वी नल को क्यों नहीं सन्तप्त करेगा''? अर्थात् ''जब कामदेव ने विधी को भी अत्यधिक सन्तप्त कर दिया, तो राजा नल भले ही कितने धैर्यवान् हों, कामदेव के बाणों के प्रहार से अवश्य ही काम–संतप्त हो जायेंगे''।

यहाँ वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ दोनों चमत्कार–जनक होने के कारण प्रधान प्रतीत हो रहे हैं, परन्तु यहाँ वाच्य अथवा व्यङ्ग्य में से किसी एक का प्राधान्य

प्रस्तुत चमत्कार—पूर्ण वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर ''राजा नल का दमयन्ती के प्रति अनुरागाधिक्य'' रूप व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है, अर्थात् चित्रित दमयन्ती के प्रति भी अनुरागाधिक्य के कारण राजा नल के नेत्र अश्रुपूर्ण एवं लालिमायुक्त हो गये। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ भी चमत्कारजनक है।

यहाँ वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ की समकालिक प्रतीति नहीं हो रही है। वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है। यहाँ व्यङ्ग्यार्थ का साधक प्रमाण कि— अनुरागाधिक्य के कारण ही नेत्र अश्रुपूर्ण एवं लालिमा—पूर्ण नहीं है'' तथा वाच्यार्थ का बाधक प्रमाण कि — ''निर्निमेष नेत्रों से चित्र को देखने के कारण नेत्र अश्रुपूर्ण एवं लालिमापूर्ण नहीं हैं'', यह प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है, क्योंकि निर्मिमेष नेत्रों से चित्र को देखने के कारण भी नेत्र अश्रुपूर्ण एवं लालिमा—युक्त हो सकते हैं तथा अनुरागाधिक्य के कारण भी, चित्रित दमयन्ती को देखने के कारण नेत्र अश्रुपूर्ण एवं लालिमा—युक्त हो सकते हैं।

इस प्रकार यहाँ यह सन्देहास्पद है कि वाच्यार्थ का प्राधान्य है, अथवा व्यङ्ग्यार्थ का। अत: प्रस्तुत पद्य सन्दिग्ध प्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

''दृशौ किमस्याश्चपलस्वभावे न दूरमाक्रम्य मिथो मिलेताम्।
न चेत्कृत: स्यादनयो: प्रयाणे विघ्न: श्रव: कूपनिपातभीत्या''।।

— नैषध ७/३४

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के नेत्रों एवं कानों की सुन्दरता का वर्णन किया

गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है –

''इस दमयन्ती के चञ्चल स्वभाव वाले नेत्र दूर तक जाकर परस्पर मिल क्यों नहीं जाते? अर्थात् अवश्य मिल जाते यदि इन नेत्रों के जाने में, कान रूपी कुएं में गिरने का भय बाधा नहीं उत्पन्न करता।''

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्द्ध में कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि– ''मानों कान रूपी कुएं में गिरने के भय से नेत्र आगे नहीं बढ़ रहे हैं।'' इस प्रकार प्रस्तुत वाच्य–भूता उत्प्रेक्षा के द्वारा ''कानों का कूपवत् गाम्भीर्य व्यक्त होता है, अत: वाच्यार्थ चमत्कार–जनक है। प्रस्तुत वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर, यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि, ''दमयन्ती के नेत्र कर्णान्त विशाल एवं चञ्चल हैं।'' प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ भी चमत्कार–जनक है।

प्रस्तुत पद्य में वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों चमत्कार–जनक प्रतीत हो रहे हैं, परन्तु साधक–बाधक प्रमाणों के अभाव में यह संदेहास्पद है कि यहॉ ''कानो का कूपवत् गाम्भीर्य'' रूप वाच्यार्थ का प्राधान्य है, अथवा ''नेत्रों की कर्णान्त विशालता एवं चञ्चलता'' रूप व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य है। अत: किसी एक के प्राधान्य का निश्चय न होने के कारण प्रस्तुत पद्य सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल

आचार्य मम्मट के अनुसार ''जहाँ चमत्कार को उत्पन्न करने में वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों समान रूप से समर्थ होते हैं, वहाँ वाच्य एवं व्यङ्ग्य की समान रूप से प्रधानता होती है,[१] अत: ऐसे स्थलों को तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल माना जाता है।'' ऐसे स्थलों पर चूँकि वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों समान रूप से कवि—विवक्षित होते हैं,[२] दोनों की समकालिक प्रतीति है, अत: वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों को तुल्यप्राधान्य माना जाता है।[३] ध्वनिकाव्य में केवल व्यङ्ग्य का ही प्राधान्य होता है, वाच्य व्यङ्ग्य का उपकारक होने के कारण अप्रधान होता है। अत: व्यङ्ग्य के समान वाच्य के भी प्राधान होने पर तुल्य—प्राधान्य के स्थल, गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल माने जाते हैं।

(१) ''श्रियमेव परं धराधिपाद् गुणसिन्धोरूदितामवेहि ताम्।

व्यवधावपि यां विधो: कलां मृऽचूडानिलयां न वेद क:।।'' नैषध २/१९

---

१. तुल्यप्राधान्यं तु तुल्यमर्थाद्वाच्येन समानं प्राधान्यं यत्र तत्।

चमत्कारजनने वाच्यव्यङ्ग्ययोर्द्वयोरपि क्षमत्वेन तुल्यता बोध्या।।

— का०प्र० बालबोधिनी टीका पृ० १९०

२. समं प्राधान्यमीति। विग्रहवत् संधेरज्यनर्थनिवारकत्वेन विवक्षित्वादिति भाव:।

— का०प्र० बालबोधिनी टीका पृ० २१०

३. वाच्यस्य .... व्यङ्गस्य च समकालप्रतीत्या तुल्यं प्राधान्यमित्यर्थ:।

— का०प्र० बाल चित्तानुरञ्जनी टीका पृ० १६०

प्रस्तुत पद्य में हंस राजा नल से दमयन्ती के लोकोत्तर सौन्दर्य का वर्णन कर रहा है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''आप उस दमयन्ती को गुण—समुद्र राजा भीम से उत्पन्न निश्चय ही साक्षात् लक्ष्मी जानें। उत्पत्ति स्थान पृथक होने पर भी, भगवान शंकर की चूडा में स्थित, जिस कला को चन्द्रमा की कला कौन नहीं जानता है''?

अर्थात् जिस प्रकार भगवान शंकर की कला यद्यपि समुद्र से नहीं उत्पन्न हुई है, फिर भी उसे चन्द्रमा की कला ही कहा जाता है, उसी प्रकार दमयन्ती समुद्र से उत्पन्न न होकर, ''गुण समुद्र राजा भीम'' से उत्पन्न हुई है, फिर भी उसे साक्षात् लक्ष्मी ही जानें।

यहाँ पर ''श्रियमेव अवेहि'' पदों के द्वारा निश्चय—पूर्वक कहा गया है, कि ''दमयन्ती को लक्ष्मी ही जानें। प्रस्तुत चमत्कार—पूर्ण वाच्यार्थ के समकालिक ही यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि ''दमयन्ती लक्ष्मी के ही समान सुन्दर है।''

इस प्रकार यहाँ वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ दोनों चमत्कार—पूर्ण होने के कारण प्रधान है, एवं दोनों ही समकालिक प्रतीति होती है। यहाँ वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों का समप्राधान्य कवि—विवक्षित है। अतः प्रस्तुत पद्य तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(२) ''अनयाऽमरकाम्यमानया सह योगः सुलभस्तु न त्वया।

धनसंवृतयाऽम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा।।'' नैषध २/४६

प्रस्तुत पद्य में राजहंस राजा नल से दमयन्ती के लोकोत्तर सौन्दर्य का वर्णन करते हुए, उसके देवताओं द्वारा अभिलषित होने के कारण दुर्लभ होने का वर्णन कर रहा है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''वर्षाकाल में बादल से आच्छादित होने के कारण चन्द्रकान्ति के साथ कुमुद के समान, देवताओं से अभिलषित होती हुई इस दमयन्ती के साथ आपका सम्बन्ध होना सुलभ नहीं है।'' प्रस्तुत पद्य में ''नल के दमयन्ती के साथ मिलन'' की तुलना ''वर्षाकाल की चन्द्रकान्ति एवं कुमुद के मिलने'' के साथ की गई है, जो वाच्यार्थ रूप और चमत्कारपूर्ण है।''

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त ''अनया मरकाम्यमानया'' पदों के द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि ''दमयन्ती देवताओं के द्वारा अभिलषित होने के कारण, देवाङ्गनाओं से भी अधिक सुन्दर एवं स्वयम्बर में देवताओं के आगमन के कारण दुर्लभ है।'' किन्तु जिस प्रकार वर्षाकाल में बादलों के कारण चन्द्रकान्ति आच्छादित रहती है, परन्तु वायु के द्वारा बादलों के हट जाने पर चन्द्रकान्ति एवं कुमुद का मिलन संभव है, उसी प्रकार यद्यपि दमयन्ती देवताओं के द्वारा भी अभिलषित होने के कारण दुर्लभ है, परन्तु मेरे प्रयास से आपका दमयन्ती के साथ अवश्य ही सम्बन्ध हो सकता है।''

प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ भी चमत्कारपूर्ण एवं प्रधान है।

इस प्रकार यहाँ एवं व्यङ्ग्य के समान रूप से चारूत्व–युक्त होने के कारण, दोनों का समान रूप से प्राधान्य है, अतः प्रस्तुत पद्य तुल्यप्राधान्य

गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(३) ''धन्यासि वैदर्भि! गुणेरूदारैर्यया समाकृष्पत नैषधोऽपि।

इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिका या यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।।''

नैषध ३/११६

जब राजहंस को विश्वास हो गया कि गुणग्राही दमयन्ती का राजा नल के प्रति प्रगाढ़ प्रेम है, तब यह दमयन्ती की प्रशंसा करता हुआ प्रस्तुत पद्य कहता है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

'हे दमयन्ती तुम धन्य हो! जिसे तुमने अपने उदार गुणों के द्वारा, नैषधाधिपति राजा नल को भी आकृष्ट कर लिया, जिस प्रकार चॉदनी अतिशय गम्भीर समुद्र को भी चञ्चल बना देती है, इससे अधिक चाँदनी की क्या स्तुति की जाय''? प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती की चाँदनी के साथ तुलना की गई है। ''उदार—गुणों वाले नल को आकृष्ट करने के कारण दमयन्ती की स्तुति'' रूप उपमेय वाक्य है, एवं ''गंभीर समुद्र को चञ्चल बनाने के कारण चॉदनी की स्तुति'' रूप उपमान—वाक्य, दृष्टान्त वाक्य है। दोनों में सभी का विम्ब—प्रतिविम्ब—भाव है। अतः वाच्यार्थ चारूत्व—युक्त होने के कारण प्रधान है।

इस प्रकार यहाँ उक्त वाच्यार्थ के समकालिक ही ''दमयन्ती की स्तुति'' रूप यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है — ''राजा नल समुद्र के समान गंभीर है एवं दमयन्ती चाँदनी के समान सुन्दर एवं आह्लादिका है''। यह व्यङ्ग्यार्थ भी

चमत्कार पूर्ण होने के कारण प्रधान है।

यहाँ पर वाच्य–रुप ''गंभीर समुद्र को भी चंचल बनाने के कारण चॉदनी की प्रशंसा'' के समान, व्यङ्ग्य रुप ''नल के गाम्भीर्य एवं दमयन्ती के चन्द्रिका के सदृश आह्लादक सौन्दर्य की प्रशंसा'' का प्रधान्य कवि–विवक्षित है।

वाच्य एवं व्यङ्ग्य दोनों समान रुप से चमत्कारपूर्ण होने के कारण प्रधान है, अतः प्रस्तुत पद्य तुल्य प्राधान गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल

आचार्य मम्मट के अनुसार "जहाँ वाच्यार्थ के साथ ही, काकु से आक्षिप्त व्यङ्ग्य की अविलम्बेन प्रतीति होती है।[१] वहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है। यह काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य पूर्वसिद्ध वाच्यार्थ में होने वाले वाच्यार्थ बाध को दूर करके वाच्यार्थ को उपपन्न बनाता है।[२]

इस व्यङ्ग्य के उपस्कार के बिना वाच्यार्थ की अबाधित प्रतीति नहीं हो सकती है,[३] अत: ऐसे काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य के स्थल, गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के स्थल कहलाते हैं।

---

१. काक्वाक्षिप्तम् काकुर्ध्वनेर्विकार· तया आक्षिप्त झटिति प्रकाशितम्
यया काक्वा बिना वाक्यार्थ एव नात्मन लभते तया प्रकाश्यमीति
यावत् काक्वा हठेनोपस्थापितमिति वा। का०प्र० बालबोधिनी टीका पृ १९०

२. काक्वाक्षिप्तं व्यङ्ग्य वाक्यार्थस्य सिद्धरुपस्य बाधमपाकरोति
वाच्यसिद्धयङ्ग तु पदार्थस्य सिद्धिकृदिति विवरणकृत:। का०प्र० बालबोधिनी टीका पृ २११

३. अत्र मथ्नामीति व्यङ्ग्यम्। तच्च वाच्यस्य निषेधस्य सहभावेनैव
व्यवस्थिम्। तादृशकाकुं विना वाच्यस्य बाधितत्वेनाप्रार्दुभावात्। का०प्र० प्रदीप टीका पृ २०४

(१) ''पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषुं हिंसारस एष पूयूर्यते?।

धिगिदृशन्ते नृपतेः कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि''।।

नैषध० १/१३२

प्रस्तुत पद्य में राजा नल के द्वारा पकड़े गये, हंस के द्वारा की गई निन्दा का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य में वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''पग—पग पर युद्ध में बहादुर योद्धा हैं, उनमें तुम्हारा हिंसानुराग नहीं पूरा होता है क्या? हे राजन् तुम्हारे इस निन्दित पराक्रम को धिक्कार है, जो मुझे कृपापात्र दीन पक्षी पर प्रयुक्त हो रहा है''।

प्रस्तुत पद्य में वाच्यार्थ बाधित सा प्रतीत होता है, क्योंकि ''जिस नल का पराक्रम विश्वविश्रुत है, उसका हिसानुराग पूरा न हो, यह बात विश्वसनीय नहीं लगती है''।

प्रस्तुत बाधित वाच्यार्थ के समकालिक ही, काकु के द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ आक्षिप्त होता है कि ''आप तो शूरवीर पराक्रमी हैं, युद्धभूमि में आपका हिंसानुराग योद्धाओं के ऊपर अवश्य ही पूरा हो जाता है''।

उपर्युक्त काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य उक्त प्रकार से बाधित वाच्यार्थ का उपस्कारक है। प्रस्तुत पद्य का व्यङ्ग्य—सहकृत अर्थ इस प्रकार सिद्ध होता है— ''युद्धभूमि में आपका हिंसानुराग अवश्य पूरा होता है, अतः मुझ कृपापात्र दीन पक्षी पर प्रयुक्त पराक्रम निन्दनीय है''।

यहाँ वाच्यार्थ के समकालिक ही काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है। मुख्यार्थ बाधित होने के कारण स्वात्म—विश्रान्त नहीं है, काकु व्यङ्ग्य के सहारे ही उसकी विश्रान्ति होती है, इस प्रकार काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य उपस्कार होने के कारण गुणीभूत हो गया है। अत: प्रस्तुत पद्य काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(२) ''धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भुवौ।

नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालिकर्विमुक्तिकामयो:''।।

नैषध० २/२८

प्रस्तुत पद्य में राजहंस राजा नल से दमयन्ती के सौन्दर्यातिशय का वर्णन कर रहा है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है—

''उस दमयन्ती के भूद्वय विश्वविजय के लिए उतपन्न रति एवं कामदेव के दो धनुष नहीं हैं क्या? उस दमयन्ती के उच्च नासापुट तुम्हारे ऊपर बाण—प्रहार के इच्छुक कामदेव के तरकश नहीं हैं क्या?''

प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ कुछ बाधित सा प्रतीत हो रहा है क्योंकि ''लोक में किसी के भी भूद्वय धनुष के रुप में एवं नासिका पुट तरकश'' के रुप में नहीं देखे जाते हैं।

प्रस्तुत बाधित वाच्यार्थ के समकालिक ही काकु के द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ

आक्षिप्त होता है कि ''दमयन्ती के भूद्वय कामदेव के धनुष के समान एवं दोनों उच्च नासिकाएं कामदेव के तरकश के समान कामोद्दीपक हैं''। अर्थात् जिस प्रकार कामदेव अपने धनुष एवं बाणों के प्रहार से समस्त विश्व—जनों को कामपीड़ित बनाते रहते हैं, उसी प्रकार दमयन्ती के भूद्वय एवं दोनों उच्च नासिकाएं समस्त विश्वजनों को कामपीड़ित बनाने में समर्थ हैं।

प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ, काकु से आक्षिप्त होने के कारण निषेध रुप से वाच्यार्थ के साथ ही प्रतीत होता है तथा वाच्यार्थ—बाध को दूर करके, वाच्यार्थ को सिद्ध करते हैं। अत: प्रस्तुत पद्य काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(३) विश्वदृश्वनयना वयमेते त्वद्गुणाम्बुधिमगाधमवेम:।

त्वामिहैव विनिवेश्य रहस्ये निर्वृतिं न हि लभेमहि सर्वे?

— नैषध० १०१

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है कि यद्यपि इन्द्रादि दिग्पाल यह जानते थे कि नल भी दमयन्ती के स्वयंवर में सम्मिलित हो रहे हैं, फिर भी कपट—पूर्ण आचरण करते हुए वे नल से ही अपना ''दौत्यकर्म'' करने रुप कार्य का अनुरोध करते हैं। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है—

''विश्वदर्शी नेत्रों वाले ये हम सभी लोग तुम्हारे अथाह गुण—रुपी समुद्र को जानते हैं। इस दमयन्ती के पास दूत—कर्म रुपी गुप्त—कार्य में तुमको ही

नियुक्त करके हम सभी लोग क्या सुख नहीं पायेंगे''?

प्रस्तुत पद्य में वाच्यार्थ – कि ''दया, औदार्य आदि गुणों से युक्त नल सर्वज्ञ इन्द्रादि दिग्पालों के दौत्यकर्म को पूर्ण करके उन्हें सुखी न करे यह असम्भव है,'' कुछ बाधित सा प्रतीत हो रहा है।

प्रस्तुत पद्य में दिग्पालों ने विशेष अभिप्राय की अभिव्यक्ति के लिये ''न हि लभेपदि सर्वे''? पदों का प्रयोग काकु द्वारा किया है।

प्रस्तुत बाधित वाच्यार्थ के समकालिक ही काकु के द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ आक्षिप्त होता है कि ''यद्यपि यह दौत्यकर्म अत्यधिक कठिन है, परन्तु तुम दया,औदार्य आदि गुणों से युक्त हो, अत: अवश्य ही तुम इस दौत्यकर्म को करके हमें सुखी बनाओगे''।

प्रस्तुत काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य, बाधित वाच्यार्थ को उपपन्न बनाता है, काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य के बिना वाच्यार्थ की विश्रान्ति नहीं होती है। अत: व्यङ्ग्य वाच्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो गया है। प्रस्तुत पद्य काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ व्यङ्ग्य स्वभावत: वाच्य की अपेक्षा चारुत्व रहित होता है, एवं वाच्य ही चमत्कार उत्पन्न करने के कारण चारुत्व–युक्त होता है, [१] ऐसे स्थलों पर व्यङ्ग्य अप्रधान होने के कारण गुणीभूत एवं वाच्य की अपेक्षा न्यून चारुत्व युक्त होने के कारण असुन्दर कहलाता है। अत: ऐसे स्थलों को असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल कहा जाता है।

(१) पिकाद्वने श्रृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणं वियोगिनाम्।

अनास्थया सूनकरप्रसारिणी ददर्श दून: स्थलपद्मिनी नल:।।

नैषध० १/८८

प्रस्तुत पद्य में वर्णित विषय है कि राजा नल जिस उद्यान में भ्रमण करने गये थे, वहाँ कोयलें कूजन कर रही थीं एवं भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे। इस प्रकार सम्पूर्ण वातावरण अत्यन्त मनोहारी था।

प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है कि कोयलों के कूजन एवं भ्रमरों के

---

१. असुन्दरं चमत्कारजनने वाच्यमुखनिरीक्षकम्।

यदा स्वभावादेव वाच्यापेक्षयाचारु।

— का०प्र० बालबोधिनी टीका पृ १९०

गुञ्जार से युक्त वन के वातावरण को देखकर कवि ने इस रुप में कल्पना की है —

"दुखी नल ने देखा मानों पिक विरहियों की कथा कह रहा है, भ्रमरों के गुञ्जार के द्वारा वन हुंकारी कर रहा है और स्थल कमलिनियाँ मानो पुष्प रुपी हाथों को फैलाकर इस दयनीय दशा को कहने से निर्धारित कर रही है"।

प्रस्तुत वाच्यार्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि "वन का सम्पूर्ण वातावरण अत्यन्त मनोहारी एवं कामोद्दीपक था, जो कि कामपीड़ित राजा नल को और अधिक दुखी बना रहे थे"। प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ की तुलना में कवि की उत्प्रेक्षा जो कि वाच्य है, अधिक सुन्दर एवं चमत्कारोत्पादक है।

इस प्रकार यहाँ वाच्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चारुत्व—युक्त होने के कारण प्रधान है, एवं व्यङ्ग्यार्थ कम चारुत्व युक्त होने के कारण अप्रधान है। अतः प्रस्तुत पद्य असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है

(२) जीवितेन कृतमप्सरसां तत्प्राणमुक्तिरिह युक्तिमयी नः।
इत्यनक्षरमवाचि घृताच्या दीर्घनिःश्वसितनिर्गमनेन।।

नैषध० ५/४९

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है कि इन्द्र दमयन्ती के साथ विवाह करने की इच्छा से मर्त्यलोक के लिए प्रस्थान कर रहे हैं, अतः इन्द्र विरह की आशंका से दुखी

घृताची अप्सरा, अपना दुख व्यक्त कर रही है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''हम अप्सराओं का अत्यधिक कष्ट के कारण जीना व्यर्थ है, अतएव इस समय प्राणों की मुक्ति ही युक्तिसंगत है, इस प्रकार दीर्घ निःश्वास के द्वारा घृताची अप्सराओं ने बिना कुछ कहे ही सब कुछ कह दिया''।

प्रस्तुत वाच्यार्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि ''इन्द्र विरह की आशंका से घृताची अप्सरा अत्यधिक दुःखी हो रही है, और वह जीवन की अपेक्षा मरना ही श्रेयस्कर समझती है''।

प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ में अप्सरा के हृदयगत दुःख को व्यक्त करने की उतनी सामर्थ्य नहीं है, जितनी ''दीर्घ निःश्वास के द्वारा बिना कुछ कहे ही सब कुछ कह दिया'' रुप वाच्यार्थ में है। असह्य दुःख की अनुभूति में मनुष्य मौन हो जाता है, इस प्रकार यहाँ वाच्यार्थ दुःख की असह्यता को व्यक्त करने में अधिक समर्थ है।

इस प्रकार यहाँ व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा, वाच्यार्थ ही अप्सरा के दुख को व्यक्त करने में अधिक समर्थ होने के कारण, अधिक चमत्कारपूर्ण अतः प्रधान है, तथा व्यङ्ग्यार्थ न्यून—चारुत्व युक्त होने के कारण अप्रधान हो गया है।

अतः प्रस्तुत पद्य असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(३) विज्ञप्तिमन्तः सभ्यः स भैम्यां मध्येसमं वासवशम्भलीयाम्।

सम्मावयामास भृशं कुशाशस्तदालिवृन्दैरभिनन्द्यमानाम्।।

नैषध० ६/७६

प्रस्तुत पद्य में वर्णित है कि जब इन्द्रादि दिग्पालों के संदेश देने के लिये राजा नल अदृश्य रुप में दमयन्ती की सभा में उपस्थित हुए , तभी उन्हें वहॉ पर इन्द्रदूती की दमयन्ती के प्रति की गई प्रार्थना सुनाई पडी। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है –

''उस राजा नल ने दमयन्ती की सभा के मध्य में, उस (दमयन्ती) की सखियों द्वारा अभिनन्दित की जाती हुई इन्द्रदूती की, दमयन्ती के विषय में विज्ञप्ति को, अन्तःकरण में भय–युक्त होकर दमयन्ती–प्राप्ति की अत्यन्त कम आशा रखते हुए सावधान होकर सुना''।

प्रस्तुत वाच्यार्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि ''राजा नल इसलिए भयभीत हो रहे थे, कि सखियों द्वारा समर्थित ''इन्द्र–वरण'' की प्रार्थना को कहीं दमयन्ती स्वीकार न कर ले''।

प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ में नल के दमयन्ती विषयक प्रेम को व्यक्त करने की उतनी सामर्थ्य नहीं है, जितनी ''अन्तः सभ्यः कृशाशः'' पदों द्वारा व्यक्त वाच्यार्थ में है। अर्थात् वाच्यार्थ में ही ''नल के दमयन्ती विषयक प्रेम के कारण अत्यन्त उत्कण्ठापूर्णक दमयन्ती के उत्तर की प्रतिक्षा एवं दमयन्ती–प्राप्ति की आशा कम

होने के कारण भयभीत होने के ''आन्तरिक—भावों'' को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य है।

यहाँ वाच्यार्थ ही अधिक चारुत्व—युक्त होने के कारण प्रधान है एवं व्यङ्ग्य स्वभावतः वाच्य की उपेक्षा कम चारुत्व युक्त है। अतः प्रस्तुत पद्य असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

(४) ''करः स्रजा सज्जतरस्तदीयः प्रियोन्मुखीभूय पुर्नव्यरंसीत्।

तदाननस्यार्द्धपथं ययौ च प्रत्याययौ चातिचलः कटाक्षः''।।

नैषध० १४/२६

प्रस्तुत पद्य में दमयन्ती के द्वारा राजा नल को वरण—माला पहनाने का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है —

''वरणमाला से अत्यन्त सुशोभित उस दमयन्ती के हाथ प्रिय नल की ओर अभिमुख होकर पुनः हट गये। अत्यन्त चञ्चल कटाक्ष, उस नल के मुख के आधे मार्ग में देखने की इच्छा से गया और जाकर लौट आया''।

प्रस्तुत वाच्यार्थ से यह व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है कि '' दमयन्ती नल के कण्ठ में वरणमाला नहीं डाल सकी एवं चंचल नेत्राों से नल सुख का दर्शन नहीं कर सकी''।

प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ में ''दमयन्ती की नल—दर्शन विषयक उत्कण्ठा एवं

लज्जा रुप भावों'' को व्यक्त करने की उतनी सामर्थ नहीं है, जितनी यहॉ उक्त नल के प्रिय अर्थात् अभिलषित होने के कारण वरणमाला युक्त हाथों का आगे बढ़ना एवं लज्जावश हट जाना एवं ''चंचल कटाक्षों का मुख के आधे मार्ग से लौटना'' रुप वाच्यार्थ में है।

इस प्रकार यहाँ वाच्यार्थ दमयन्ती के लज्जा एवं उत्कण्ठा रुप भावों को अभिव्यक्त करने में अधिक समर्थ होने के कारण अधिक चमत्कार—युक्त है।

यहाँ व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा न्यून चारुत्व—युक्त होने के कारण अप्रधान है। अत: प्रस्तुत पद्य असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्थल है।

इस प्रकार यहाँ ''स्थालीपुलाकन्याय'' से वृहत्त्रयी में प्रयुक्त कुछ गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थलों को प्रस्तुत किया गया है। यदि ''वृहत्त्रयी संज्ञक'', उपर्युक्त महाकाव्यों में प्रयुक्त गुणीभूतव्यङ्ग्य के समस्त स्थलों को ग्रहण किया जाय, तो शोध—प्रबन्ध का कलेवर अत्यन्त विस्तृत हो जायेगा। अत: यहाँ कुछ स्थलों के प्रयोग के द्वारा अलंकार—प्रधान महाकाव्यों में गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्वरुप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

पंचम अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

संस्कृत साहित्य शैली के विकास के ऊपर, युगों की सामाजिक चेतना का विशेष प्रभाव पड़ता है। काल की साहित्यिक मान्यता, युग का वातावरण तथा सामाजिक रूढ़ियाँ उस युग को एक विशिष्ट शैली का आश्रय लेने को बाध्य करती हैं। विक्रम के सप्तम अष्टम — शतक को साहित्य के इतिहास में 'परिवर्तन युग' माना जा सकता है। काव्य का लक्ष्य नवीन परिस्थितियों में विशेष रूप से परिवर्तित होने लगा। अब तक संस्कृत काव्य का लक्ष्य जनसाधारण का अनुरञ्जन था और इसलिये इस युग के संस्कृत कवि साधारणजन के हृदय को स्पर्श करने वाली कविता के निर्माण में दक्ष दिखाई पड़ते हैं। कालिदास तथा अश्वघोष का काव्य इसलिये संस्कृत काव्य के इतिहास में अपनी सरलता, सरसता तथा सुबोधता से सम्पन्न काव्य की रचना में प्रख्यात माना जाता है, परन्तु गुप्त काल के सामूहिक शिक्षण व्यवस्था तथा व्यापक सांस्कृतिक प्रसार के कारण भारतवर्ष का साहित्यिक वातावरण ही बदल जाता है। जनता प्राकृत भाषा की कविता के द्वारा अपना मनोरञ्जन करने लगती है। प्राकृत लोकभाषा होने के कारण जनता के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करती है। अतएव संस्कृत काव्य का अब लक्ष्य साधारणजन न होकर पण्डितजन ही हो जाता है। इसी युग में बौद्ध न्याय का उदय तथा विकास सम्पन्न होता है, जिसके मतों को ध्वस्त करने के लिये ब्राह्मण नैनायिक अपने युक्तिकौशल का प्रदर्शन करते हैं। दिङ्नाग तथा

धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध पण्डितों का और वात्स्यायन तथा उद्योतकर जैसे ब्राह्मण नैयायिकों के उदय का यही युग है। फलतः इस युग का वातावरण ही पाण्डित्यमय है। राजदरबारों को ऐसे ही पाण्डित्यमण्डित विद्वान् सुशोभित करते थे। इन्हीं को लक्ष्य करके संस्कृत का कवि अपने प्रबन्ध—काव्यों की रचना करता था।

इसलिये इस युग के साहित्यिक आग्रह, पाण्डित्यमय वातावरण तथा वैदुषीमण्डित पाठकों का आवर्जन संस्कृत कवियों को एक नई प्रेरणा देने लगे। युग की विशिष्टता और साहित्यिक चेतना के कारण कविजनों के लिये प्राचीन रसमयी पद्धति को छोड़कर एक नवीन शैली का ग्रहण आवश्यक हो गया, जिसमें विषय की अपेक्षा वर्णन प्रकार पर तथा सारल्य के स्थान पर पाण्डित्य पर ही विशेष आग्रह था तथा काव्य को सुसज्जित बनाने के लिये कामशास्त्र जैसे प्रौढ़ शास्त्रों का उपयोग आवश्यक हो गया। ऐसे ही नवीन युग के प्रतीक थे महाकवि भारवि तथा माघ। इन्होंने अपने काव्यों के संक्षिप्त वर्णन को पुष्ट, अलंकृत तथा पाण्डित्यपूर्ण बनाया क्योंकि यह पाण्डित्यमय युग की मांग थी जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। अतएव युगधर्म का इन कवियों के काव्यों में प्रतिबिम्बित होना नैसर्गिक घटना है। संस्कृत साहित्य के विकास में महाकवि भारवि का नाम विशेष उल्लेखनीय रहेगा, क्योंकि उन्होंने महाकाव्य लिखने की एक नयी शैली को जन्म दिया। इन्होंने एक ऐसी रीति का काव्य में प्रयोग किया जिसमें अलंकार की प्रधानता है, जो श्लेष के प्रयोग से अत्यन्त

दुरूह बन गयी है तथा चित्रकाव्य के प्रदर्शन करने की बलवती इच्छा से पहेली के समान अत्यन्त कठिन हो गयी है। अलंकारों की प्रधानता के कारण ही इसे 'अलंकृत शैली' नाम प्रदान किया गया है।[१] भारवि का ही अनुकरण महाकवि माघ एवं श्रीहर्ष ने किया। आचार्य कुन्तक इस अलंकार बहुला पद्धति को 'विचित्र मार्ग' की संज्ञा देते हैं।

महाकवि भारवि के पहले काव्य का विषय अत्यन्त विस्तृत होता था, प्राकृतिक वर्णन कम। परन्तु भारवि के बाद काव्य में कथावस्तु अत्यन्त कम होने लगी और प्रकृति वर्णन अधिक। यही बात शिशुपालवध और नैषध जैसे महाकाव्यों में भी पाई जाती है। नैषधीयचरितम् इस परम्परा का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। वृहत्त्रयी संज्ञक काव्यों में 'किरातार्जुनीयम्', 'शिशुपालवधम्', एवं 'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य क्रमशः महाकवि भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष द्वारा विरचित है। इन तीनों महाकवियों में विद्वानों ने श्रीहर्ष को ही सर्वश्रेष्ठ माना है —

''उपमा कालिदासम्य्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः।।
तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।।'' इति

महाकवि भारवि द्वारा प्रारम्भ किये गये विचित्र मार्ग की परम्परा पर रचित

---

१. 'भारतीय साहित्यशास्त्र' आचार्य बलदेव उपाध्याय द्वितीय खण्ड पृ० १८६–१९६

'वृहत्त्रयी' संज्ञक तीनो महाकाव्य विचित्र मार्ग की शैली के सुन्दर उदाहरण है। महाकवि श्रीहर्ष द्वारा विरचित 'नैषध' काव्य एक विशाल सुसज्जित प्रसाद की तरह है, जिसमें सब वस्तुऐं यथास्थान सुचारू रूप से अलंकृत कर रखी हुई हैं। श्रीहर्ष अपने अलौकिक पाण्डित्य के लिये जितने प्रसिद्ध हैं, उतने ही वे अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा, विलक्षण वर्णन चातुरी तथा रसमयी अनूठी उक्तियों के लिये भी विख्यात हैं।

महाकवि श्रीहर्ष उद्भट दार्शनिक एवं महावैयाकरण थे। यद्यपि भारवि एवं माघ ने अपनी विद्वता के प्रदर्शनार्थ ऋतु, प्रभात, चन्द्र आदि का अनावश्यक वर्णन किया है, परन्तु श्रीहर्ष ने उत्प्रेक्षित अंशों के लिये जो भी कल्पनायें की हैं, वे कथा के लिये आवश्यक सी प्रतीत होती हैं। प्रत्येक स्थान पर श्रीहर्ष ने नूतन कल्पनाओं से वस्तु का अभिनव ढंग से वर्णन किया है। श्रीहर्ष ने केवल पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये जानबूझ कर किसी वस्तु का वर्णन नहीं किया है फिर भी पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव से कहीं—कहीं अपने योगशास्त्र, चार्वाक दर्शन एवं वैशेषिक दर्शन के ज्ञान को प्रकट किया है।[१] अद्वैतमत के ज्ञान को उन्होंने नैषध में भी "अद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोक:" इत्यादि वचनों द्वारा प्रदर्शित किया है।

सम्भवत: 'नैषधीयचरितम्' की रचना के समय तक विचित्र मार्ग विद्वत्समाज में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो चुका था। कविगण स्वयं इस विचित्र मार्ग पर ही रचना

---

१. ध्वान्तस्य वामोरू! विचारणायां वैशेषिक चारूमतं मतंमें।

औलूकमाहु: खलु दर्शनं तत्क्षयं तमस्तत्त्वनिरूपणाय।। नैषध २२/३५

करने में गौरव का अनुभव करते थे। किन्तु जैसा कि तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में प्रतिपादित किया जा चुका है 'नैषधीयचरितम्' में ध्वनितत्त्व (व्यङ्ग्यार्थ) युक्त काव्य खण्डों की कमी नहीं है। जो काव्य ध्वनियुक्त होगा उसमें अलंकारों के प्राधान्य के लिये कोई अवकाश न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार श्रीहर्ष, युग की मान्यताओं का अभिनन्दन करते हुये जहाँ एक ओर विचित्र मार्ग का सफलतापूर्वक अनुसरण करते हैं, वहीं कालिदास सदृश वैदर्भि रीति सम्पन्न काव्य रचना में सर्वथा समर्थ हैं वे स्वयं भी वैदर्भि रीति के उपासक थे। 'नैषधीयचरितम्' में ही दमयन्ती की प्रशंसा के बहाने उन्होंने वैदर्भि रीति की प्रशंसा की है।[१]

---

१. ध्वन्याऽसि वैदर्भि गुर्णेरूदारैर्यया समाकृष्यत—नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिका या यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।। नैषध ३/११६

सहायक ग्रन्थ-सूची

१. नैषधचरितमहाकाव्यम् — श्रीहर्ष मल्लिनाथकृत — जीवातु—सहितम् प्रथम सर्ग, व्याख्याकार डा० सुरेन्द्र देव शास्त्री, चौखम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी, तृतीय संस्करण १९९७ ई०

२. नैषधमहाकाव्यम् — प्रथम—एकादश सर्ग पर्यन्त — महाकवि श्रीहर्ष व्याख्याकार पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री मल्लिनाथकृत 'जीवातु' व्याख्यायुत 'मणिप्रभा', हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्भा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी सप्तम संस्करण १९८३ई०

३. नैषधमहाकाव्यम् — द्वादश—द्वाविंश सर्ग पर्यन्त — श्रीहर्ष व्याख्याकार पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री मल्लिनाथ कृत 'जीवातु' 'मणिप्रभा' व्याख्या सहित, चौखम्भा अमरभारती प्रकाशन, तृतीय संस्करण, सन् १९८१ई०

४. ध्वन्यालोक — द्वितीय एवं तृतीय उद्योत — आनन्दवर्धन व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर ज्ञानमण्डल लिमिटेड, सन्त कबीर मार्ग वाराणसी, तृतीय संस्करण संवत् २०४२वि०

५. ध्वन्यालोक — आनन्दवर्धन व्याख्याकार डा० कृष्ण कुमार प्रथम उद्योत, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी।

६. काव्यप्रकाश — आचार्य मम्मट डा० श्रीनिवास शास्त्री साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ, दशम् संस्करण १९८९ई०

७. साहित्यदर्पण — कविराज विश्वनाथ 'विमल' व्याख्या सहित मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९५६ई०

८. काव्यप्रकाश — मम्मट 'सुधासागर' टीका— श्री भीमसेन रचित चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८४ई०

९. अलंकारसर्वस्व — राजानक रूय्यक सञ्जीवनी व्याख्या सहित मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९६५ई०

१०. काव्यादर्श — दण्डी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी १९५८ई०

११. काव्यालंकार — भामह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना, १९६२ई०

१२. काव्यालंकार सूत्राणि — वामन हिन्दी व्याख्या डा० बेचन झा चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि०सं० २०३३

१३. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति — वामन, हिन्दी अनुसंधान परिषद, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९५४ई०

१४. काव्यालंकार सारसंग्रह एवं लघुवृत्ति — उद्भट, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना १९२५ई०

१५. काव्यानुशासन — हेमचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९०१ई०

१६. रसगङ्गाधर — पण्डितराज जगन्नाथ बद्रीनाथ झा रचित, 'चन्द्रिका' व्याख्या सहित चौखम्भा विद्या भवन चौक वाराणसी, १९७८ई०

१७. वक्रोक्तिजीवित — कुन्तक श्री राधेश्याम मिश्र रचित व्याख्या चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी १९३९ई०

१८. व्यक्तिविवेक — महिमभट्ट, चौखम्भा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, १९६४ई०

१९. संस्कृत काव्यशास्त्र को महिमभट्ट के देयांश का मूल्यांकन — डा० ज्ञानदेवी श्रीवास्तव, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष संस्कृत विभाग शिवनिलय, इलाहाबाद १९७७ई०

२०. संस्कृत काव्यशास्त्र — डा० पी०वी० काणे, मोतीलाल, बनारसी दास, वाराणसी, १९६६ई०

२१. संस्कृत साहित्य का इतिहास आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा निकेतन वाराणसी, दशम संस्करण पुर्नमुद्रण १९९९ई०

२२. साहित्यदर्पण — कविराज विश्वनाथ 'शशिकला' हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्भा विद्याभवन चौक, वाराणसी, १९५७

२३. ध्वन्यालोक लोचन टीका सहित आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त बालप्रिया टीका सहित काशी संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९४०ई०

२४. नाट्यशास्त्र — भरतमुनि, प्रथम भाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, वि०सं० २०१२

२५. नैषध परिशीलन — डॉ० चन्द्रिका प्रसाद शुक्ल, प्रोफेसर तथा भूतपूर्व अध्यक्ष, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९६७ई०